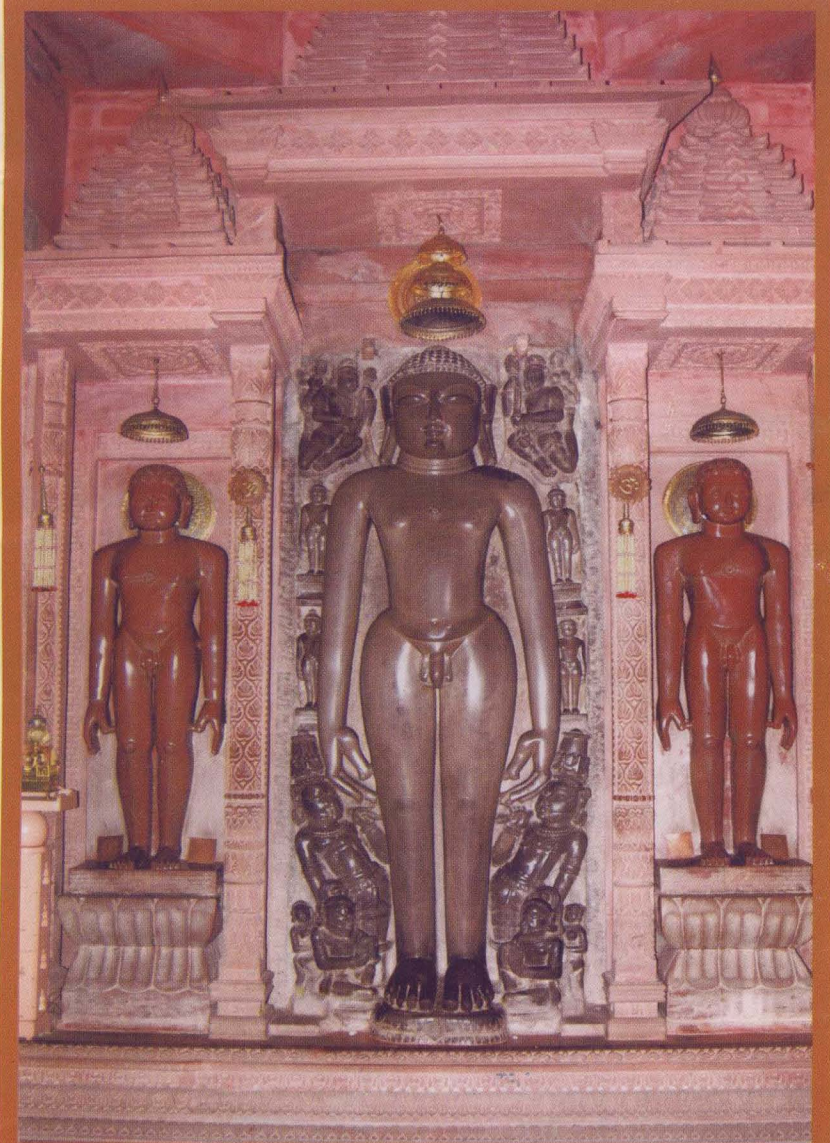


जिनभाषित

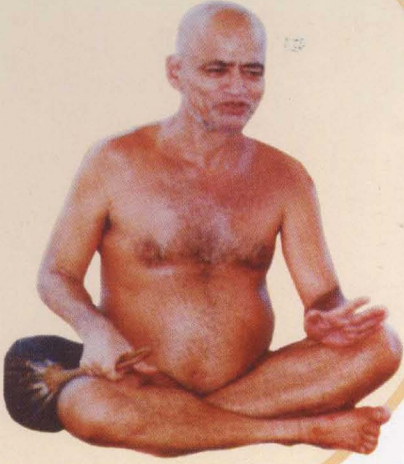
वीर निर्वाण सं. 2534



ग्राम मऊ (तह. व्यौहारी, जिला शहडोल, म.प्र.)
से प्राप्त तथा सतना (म.प्र.) के जिनालय में स्थापित
भगवान् शान्तिनाथ की ११वीं शती ई. की भव्य प्रतिमा

भाद्रपद, वि.सं. 2065

सितम्बर, 2008



व्यवधान का सावधान होकर सामना

• आचार्य श्री विद्यासागर जी

विपत्तियों से द्वेष रखना अपने को सम्पत्तियों से वंचित रखने का मार्ग है। सम्पत्तियाँ चाहिए, तो विपत्तियों को भी गले लगाना होगा। मूकमाटी की अधोलिखित काव्यपंक्तियाँ इस मनोवैज्ञानिक सन्देश को फूल और काँटों के प्रतीकविधान द्वारा बखूबी प्रेषित करती हैं।

सम्पादक

प्रत्येक व्यवधान का

सावधान होकर

सामना करना

नूतन अवधान को पाना है,

या यों कहें कि

अन्तिम समाधान को पाना है।

गुणों के साथ

अत्यन्त आवश्यक है

दोषों का बोध होना भी,

किन्तु

दोषों से द्वेष रखना

दोषों का विकसन है

और

गुणों का विनशन है,

काँटों से द्वेष रख कर

फूल की गन्ध-मकरन्द से

वंचित रहना

अज्ञता ही मानी है,

और

काँटों से अपना बचाव कर

सुरभि-सौरभ का सेवन करना

विज्ञता की निशानी है

सो---

विरलों में ही मिलती है!

मूकमाटी (पृष्ठ ७४) से साभार

सितम्बर 2008

मासिक

वर्ष 7,

अङ्क 9

जिनभाषित

सम्पादक
प्रो. रतनचन्द्र जैन

कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-2424666

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कँवरलाल पाटनी
(मे. आर.के.मार्बल)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282 002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-2851428, 2852278

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	1100 रु.
वार्षिक	150 रु.
एक प्रति	15 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- ◆ काव्य : व्यवधान का सावधान होकर सामना : आचार्य श्री विद्यासागर जी आ.पृ. 2
- ◆ मुनि श्री योगसागर जी की कविताएँ आ.पृ. 3
- ◆ श्री सेवायतन को झारखण्डरत्न-सम्मान आ.पृ. 4
- ◆ सम्पादकीय : निर्माल्य और आशिका (शेषा) 2
- ◆ प्रवचन
 - सत्य की छाँव में : आचार्य श्री विद्यासागर जी 7
- ◆ लेख
 - आत्मविकास के दस सोपान : आचार्य श्री विशुद्धसागर जी 13
 - अरहन्त तथा केवली : पं० जवाहरलाल शास्त्री, भीण्डर 15
 - यज्ञोपवीत : पं० मूलचन्द्र लुहाड़िया 20
 - जीवन जीने की कला सिखाता है पर्वराज पर्युषण : ब्र० त्रिलोक जैन 23
- ◆ जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा 25
- ◆ ग्रन्थसमीक्षा
 - शताब्दीवर्ष-स्मारिका : अभयकुमार जैन 19
 - धवल कीर्तिमान् : प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन 28
- ◆ इन्हें जानिये और लाभ लें 29
- ◆ महावीराष्टक का अँगरेजी-अनुवाद : डॉ. प्रेमचन्द्र जैन 31
- ◆ समाचार 12, 14, 30, 32

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

'जिनभाषित' से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्यायक्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

निर्माल्य और आशिका (शेषा)

‘जिनभाषित’ मई २००८ के सम्पादकीय में मैंने ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध प्रतिष्ठाचार्य पं० गुलाबचन्द्र जी पुष्प के ये विचार उनके पुत्र ब्र० जयकुमार जी ‘निशान्त’ के वचनों के माध्यम से उद्धृत किये थे कि ‘देवपूजा में आवाहन आदि करते समय ठौने पर जो पुष्प चढ़ाये जाते हैं, उनमें जिनदेव की स्थापना नहीं की जाती, अपितु वे आवाहन आदि के संकल्प के प्रतीक होते हैं।’ इससे देवपूजा में आवाहन-स्थापना आदि के लिए प्रयुक्त होनेवाले ठौने निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं, क्योंकि संकल्पपुष्पों का क्षेपण उस थाली में भी किया जा सकता है, जिसमें जिनदेव को लक्ष्यकर अष्टद्रव्य समर्पित किये जाते हैं। अतः पं० गुलाबचन्द्र जी ‘पुष्प’ ठौने की परम्परा के निष्प्रयोजन सिद्ध होने के भय से कहते हैं कि उक्त संकल्पपुष्प ठौने पर ही चढ़ाये जाने चाहिए, क्योंकि जिस थाली में पूजाद्रव्य समर्पित किये जाते हैं, उस थाली में संकल्पपुष्पों का क्षेपण करने से पूजाद्रव्य के समान संकल्प भी निर्माल्य हो जायेगा। ‘पुष्प’ जी के विचारों को ‘निशान्त’ जी ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है-

“पूजन में अष्ट द्रव्यों के साथ ठौने का होना स्वयं सिद्ध है। --- यदि संकल्प के पुष्प, द्रव्य चढ़ाने की थाली में क्षेपण करेंगे, तो हमारा संकल्प निर्माल्य हो जावेगा, अर्थात् खण्डित हो जावेगा। इसलिए पूजन के आरम्भ में आवाहन, स्थापना, सान्निधीकरण और समाप्ति पर पूजन क्रिया का विसर्जन (समापन) पुष्पों के द्वारा ठौने पर ही किया जाता है।” (पुष्पाञ्जलि/खण्ड २/पृ. ८७)।

यह मत युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जैसे द्रव्यार्पण-थाली में पूजाद्रव्य समर्पित करने से पूजाद्रव्य ही निर्माल्य होता है, पूजा नहीं, वैसे ही संकल्पपुष्पों का द्रव्यार्पण-थाली में क्षेपण करने से संकल्पपुष्प ही निर्माल्य होंगे, संकल्प नहीं। और संकल्पपुष्प चाहे ठौने पर क्षेपण किये जायँ, चाहे द्रव्यार्पण-थाली में, दोनों जगह वे निर्माल्य हो जाते हैं, क्योंकि न तो उनका संकल्पपुष्प के रूप में दूसरी बार उपयोग हो सकता है, न ही पूजाद्रव्य के रूप में। अर्थात् वे उच्छिष्ट हो जाते हैं। निर्माल्य द्रव्य का यही लक्षण है। इसलिए संकल्पपुष्पों का पूजा की थाली में क्षेपण करने से संकल्प या संकल्पपुष्पों के निर्माल्य हो जाने का तर्क समीचीन नहीं है, अतः वह ठौने को सप्रयोजन सिद्ध करने में असमर्थ है।

‘निर्माल्य’ शब्द ‘निर्मल’ और ‘माल्य’ इन दो शब्दों से निष्पन्न है। ‘निर्मल’ शब्द में ‘ण्यत्’ प्रत्यय लगने पर निर्माल्य शब्द बनता है (आप्टे-संस्कृत-हिन्दी कोश), जिससे मलरहितता या स्वच्छता अर्थ प्रकट होता है। तथा ‘माला’ शब्द के वाचक ‘माल्य’ शब्द में ‘निर्’ उपसर्ग लगाने पर दूसरा ‘निर्माल्य’ शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है- ‘देवता पर समर्पित करने के पश्चात् मुझाये हुए फूल।’ (आप्टे-संस्कृत-हिन्दी कोश)। इस प्रकार दूसरा ‘निर्माल्य’ शब्द मुख्यतः देवता को अर्पित माल्य (पुष्पमाला) शब्द से सिद्ध हुआ है, पश्चात् लक्षणाशक्ति से वह देवता को चढ़ाये गये सभी द्रव्यों का लक्षक बन गया।

निर्माल्य : देवोच्छिष्ट, देवभुक्त

भारतीय धर्मों में देवता को समर्पित पुष्पादि द्रव्य देवोच्छिष्ट या देवभुक्त माने जाते हैं, इसलिए वे निर्माल्य कहलाते हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थ ‘अभिधान राजेन्द्र कोष’ में ‘निर्माल्य’ शब्द का अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है-

“गिम्मल्लं देवोच्छिष्टे देवार्चाद्रव्ये”= देव के द्वारा उच्छिष्ट (जूठा किया गया = भुक्तावशेष) देवपूजा-द्रव्य निर्माल्य कहलाता है। (अभिधानराजेन्द्रकोष/भा.४/पृ. २०८४)।

“भोगविणटुं दव्वं गिम्मल्लं विंति गीयत्थाः।” (अभिधानराजेन्द्रकोष/भा.४/पृ. २०८४) = भोग से उच्छिष्ट द्रव्य को ज्ञानीजन निर्माल्य कहते हैं।

“यज्जिनबिम्बारोपितं सद्विच्छायीभूतं विगन्धिसञ्जातं दृश्यमानं च निःश्रीकतया न भव्यजनमनः प्रमोद-
हेतुः तन्निर्माल्यं ब्रुवन्ति बहुश्रुताः।” (अभिधानराजेन्द्रकोश / भा.४ / पृ. २०८४)।

अनुवाद— “जिनबिम्ब पर आरोपित (चढ़ाया गया) जो पुष्पादि द्रव्य निष्प्रभ, सुगन्धरहित तथा देखने में सौन्दर्य-विहीन हो जाने से भव्यजनों के मन के लिए प्रमोद का हेतु नहीं रहता, उसे बहुश्रुतजन निर्माल्य कहते हैं।”

आचार्य वसुनन्दी ने शरीर से स्पृष्ट अर्थात् भुक्तोज्झित पुष्पादि को निर्माल्य बतलाया है—

“निर्माल्यसुमनस इवोपभोगितपुष्पनिचयमिव धनं गोऽश्वमहिष्यादिकं कनकं सुवर्णादिकं ताम्यां समृद्ध-
माढ्यं धनकनकसमृद्धं बान्धवजनं स्वजनपरिजनादिकं परित्यजन्ति गृहवासविषये विरक्तचित्ताः सन्तः। यथा
शरीरसंस्पृष्टं पुष्पादिकमकिञ्चित्करं त्यज्यते तथा धनादिसमृद्धमपि बन्धुजनं धनादिकं चाथवा गृहवासं चेति
सम्बन्धः परित्यजन्तीति।” (मूलाचार / आचारवृत्ति / गा. ७७६)।

अनुवाद— “गृहवास से विरक्तपुरुष गो, महिष, अश्वादि धन तथा सुवर्णादि से समृद्ध स्वजन-परिजनों को उसी प्रकार त्याग देते हैं, जैसे लोग निर्माल्य पुष्पों अर्थात् उपभुक्त पुष्पों को त्याग देते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे शरीर से स्पृष्ट (उपभुक्त) पुष्पादि अकिञ्चित्कर हो जाने से त्याग दिये जाते हैं, वैसे ही धनादिसमृद्ध बन्धुजनों को अथवा गृहवास को विरक्तचित्त पुरुष त्याग देते हैं।”

इस कथन से स्पष्ट होता है कि न केवल देवता को अर्पित किये गये (देवोच्छिष्ट) पुष्पादि निर्माल्य कहलाते हैं, अपितु मनुष्य द्वारा उपभुक्त पुष्पादि भी निर्माल्य कहलाते हैं।

शृंगारतिलक (१०) में भी भुक्तोज्झित (भोगकर छोड़ी गई) पुष्पमाला को निर्माल्य संज्ञा दी गयी है—“निर्माल्योज्झितपुष्पदामनिकरे का षट्पदानां रतिः” (आप्टे-संस्कृत-हिन्दी कोश) = निर्माल्य अर्थात् भोग-कर त्यागी गयी पुष्पमाला में भौरों की क्या रुचि हो सकती है?

तौने पर चढ़ाये गये आवाहनादि के संकल्पपुष्प भी पूज्य ‘जिन’ को लक्ष्य करके ही चढ़ाये जाते हैं, अतः वे भी देवोच्छिष्ट हो जाने से अथवा दूसरी बार उपयोग के योग्य न रहने से निर्माल्य हो जाते हैं। इस तरह तौने पर चढ़ाये गये संकल्पपुष्पों और द्रव्यार्पण-थाली में प्रक्षिप्त किये गये पुष्पादि में कोई अन्तर नहीं रहता। अतः संकल्पपुष्पों को तौने पर चढ़ाया जाना युक्तिसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त जिनेन्द्रदेव की पूजा की क्रिया पूजा (आवहनादि) के संकल्प से कई गुना श्रेष्ठ होती है। अतः पूजा के लिए अर्पित किये गये पुष्प संकल्पपुष्पों से हीन नहीं हो सकते, अपितु कई गुना पवित्र और उत्कृष्ट होते हैं। इसलिए जिस थाली में पूजा के पुष्प अर्पित किये जा सकते हैं, उसमें संकल्पपुष्पों के अर्पण से तो संकल्पपुष्पों की महिमा में वृद्धि ही हो सकती है। हम देखते हैं कि जो द्रव्य जिनेन्द्र को अर्पित नहीं किया गया, वह यद्यपि निर्माल्य नहीं होता, तथापि उसमें वह गुण नहीं होता, जो निर्माल्य द्रव्य में आ जाता है। निर्माल्यद्रव्य जिनेन्द्रदेव के पादपंकज का स्पर्श पाकर पवित्र और पुण्यास्रव का हेतु बन जाता है, इसीलिए वह ‘शेषा’ (आशिका) के नाम से ग्रहण किया जाता है, जब कि अनिर्माल्य द्रव्य शेषा के नाम से मस्तक पर धारण नहीं किया जाता। (देखिए, आगे ‘वरांगचरित’ से उद्धृत श्लोक २३/१०२)। इसी प्रकार जिस पात्र में पूजा-द्रव्य अर्पित किया जाता है उसमें संकल्पपुष्पों के क्षेपण से उनमें भी वही गुण आना अनिवार्य है, जो अर्पित किये गये पूजाद्रव्य में आ जाता है। अतः संकल्पपुष्पों के क्षेपण हेतु तौने का प्रयोग युक्तिसंगत नहीं है।

निर्माल्य ही शेषा (आशिका) है

जैनपूजापाठ-संग्रहों में जिनवर की आशिका लेने का उपेदश दिया गया है—

श्री जिनवर की आशिका, लीजै शीश चढ़ाय।
भव भव के पातक कटैं, दुःख दूर हो जाय॥

यह 'आशिका' शब्द न तो जैनशास्त्रों में मिलता है, न संस्कृत, हिन्दी कोशों में। 'मूलाचार' में 'आसिका' शब्द आया है, किन्तु यह 'समाचार' का एक भेद है और इसका अर्थ है— 'रहने की जगह से मुनि का गुरु से पूछकर निकलना।' (मूलाचार/गा. १२६)।

वस्तुतः देवपूजा के प्रकरण में 'आशिका' शब्द 'शेषा' अथवा 'शेषिका' शब्द का बिगड़ा हुआ लोक-प्रचलित रूप है। आष्टे-संस्कृत-हिन्दी-कोश में शेषा का अर्थ इन शब्दों में बतलाया गया है— "फूल तथा अन्य चढ़ावा, जो मूर्ति के सामने प्रस्तुत किया जाता है और उसके (देवमूर्ति के) पुण्य-अवशेष के रूप में पूजा करनेवालों में बाँट दिया जाता है।"

एम. मोनिअर विलिअम्स की संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी में शेषा का अर्थप्ररूपण इस प्रकार है— "the remains of flowers or other offerings made to an idol and afterwards distributed amongst the worshippers and attendants." (Page 1089).

अर्थात् देवप्रतिमा को अर्पित की गयी पूजासामग्री ही 'शेषा' या 'शेषिका' कहलाती है। अन्य धर्मों में इसे देवता का प्रसाद भी कहते हैं। पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने इसे 'जिनेन्द्र भगवान् की आशिषिका' शब्द से अभिहित किया है। (आदिपुराण/ भा. २/ पर्व ३९/ श्लोक ९७/ पृ. २७८)। देव को अर्पित सामग्री को 'शेषा' बतलाते हुए दिगम्बराचार्य जटासिंहनन्दी ने वरांगचरित में लिखा है—

ततो वचः-कायमनः-विशुद्धः प्रविश्य राजा जिनदेवगेहम्।
प्रियासमेतः प्रणिपत्य भक्त्या जग्राह शेषां जिनदेवतायाः॥

अनुवाद— "अभिषेक और पूजन के बाद जब जिनबिम्ब को स्नानपीठ से लाकर मूलपीठ पर स्थापित कर दिया गया, तब मन-वचन-काय से विशुद्ध राजा वरांग ने रानियों के साथ गर्भगृह में प्रवेश किया और जिनबिम्ब को भक्तिभाव से प्रणाम कर जिनदेवता की शेषा ग्रहण की।"

जटासिंहनन्दी आगे वरांगचरित (२३/१०२) में लिखते हैं—

जिनेन्द्रपादाम्बुरुहार्पणेन प्रसिद्धनामग्रहणेन भूयः।
पूतां च पुण्यां पुरुसिद्धशेषां वसुन्धरेन्द्रो निदधौ स्वमूर्ध्नि॥

अनुवाद— "जिनेन्द्र के चरणकमलों में अर्पित होने से तथा जगत्प्रसिद्ध पंचपरमेष्ठी के नामोच्चरण से जो पवित्र तथा पुण्यबन्ध की हेतु थी, उस पुरु (ऋषभदेव) आदि सिद्धों की शेषा को राजा वरांग ने पुनः अपने मस्तक पर धारण किया।"

इस प्रकार जिनेन्द्र के चरणों में अर्पित अक्षत, पुष्पमाला आदि पूजासामग्री ही शेषा, शेषिका, आशिषिका या आशिका है। यह बात आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण (भाग २) के निम्नलिखित पद्यों से और स्पष्ट हो जाती है—

महात्म्यप्रच्युतिस्तावत्कृत्वाऽन्यस्य शिरोनतिम्।
ततः शेषाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः॥ ४२/२०॥
विद्विषन् परपाषण्डी विषपुष्पाणि निक्षिपेत्।
यद्यस्य मूर्ध्नि नन्वेवं स्यादपायो महीपतेः॥ ४२/२१॥
वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने।
ततोऽयं मूढवद्वृत्तिरुपेयादन्यवश्यताम्॥ ४२/२२॥
तच्छेषाशीर्वचः शान्तिवचनाद्यन्यलिङ्गिनाम्।
पार्थिवैः परिहर्त्तव्यं भवेन्न्यक् कुलतान्यथा॥ ४२/२३॥
जैनास्तु पार्थिवास्तेषामर्हत्यादोपसेविनाम्।
तच्छेषानुमतिर्याव्या यतः पापक्षयो भवेत्॥ ४२/२४॥

रत्नत्रितय - मूर्तित्वादादि - क्षत्रिय - वंशजाः ।

जिनाः सनाभयोऽमीषामतस्तच्छेषधारणम् ॥ ४२/२५ ॥

यथा हि कुलपुत्राणां माल्यं गुरुशिरोद्धृतम् ।

मान्यमेवं जिनेन्द्राङ्घ्रिस्पर्शान्माल्यादिभूषितम् ॥ ४२/२६ ॥

कथं मुनिजनादेशां शेषोपादानमित्यपि ।

नाशङ्क्यं तत्सजातीयास्ते राजपरमर्षयः ॥ ४२/२७ ॥

अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः ।

यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि तद्गुणाः ॥ ४२/२८ ॥

ततः स्थितमिदं जैनान्मतादन्यमतस्थिताः ।

क्षत्रियाणं न शेषादिप्रदानेऽधिकृत इति ॥ ४२/२९ ॥

अनुवाद- “अन्यमतावलम्बियों के समक्ष सिर झुकाने से अपना महत्त्व नष्ट हो जाता है, अतः उनके शेषाक्षत आदि ग्रहण करने से अपनी निकृष्टता हो सकती है। सम्भव है कोई परमतावलम्बी द्वेष करता हो, इसलिए राजा के सिर पर विषपुष्प रख दे। इससे उसका विनाश हो सकता है। यह भी हो सकता है कि कोई वशीकरण करने के लिए उसके सिरपर वशीकरण-पुष्प रख दे, तब वह पागल के समान आचरण करता हुआ दूसरों के वश में हो जाय। इसलिए राजाओं को अन्यमतियों के शेषाक्षत, आशीर्वाद और शान्तिवचन आदि से बचना चाहिये, अन्यथा उनके कुल में हीनता आ सकती है। राजा जैन हैं, इसलिए अरहन्तदेव के चरणों की सेवा करनेवाले उन राजाओं को अरहन्त के शेषाक्षत आदि ग्रहण करने की अनुमति देना न्यायोचित है, क्योंकि उससे उनके पाप का क्षय होता है।” (४२/२०-२४)।

“जिस प्रकार अन्य तीर्थंकर रत्नत्रय की मूर्ति होने से तीर्थंकर ऋषभदेव के वंशज कहलाते हैं, उसी प्रकार ये राजा भी रत्नत्रय की मूर्ति होने से भगवान् ऋषभदेव के वंशज कहलाते हैं। इस तरह राजाओं को समानगोत्रीय जिनेन्द्रदेव के शेषाक्षत आदि ग्रहण करना उचित है।” (४२/२५)।

“जैसे कुलपुत्रों को गुरु के शिर पर धारण की हुई माला मान्य होती है, वैसे ही राजाओं को जिनेन्द्र के चरणस्पर्श से विभूषित माल्य आदि मान्य होनी चाहिए। (४२/२६)।

“कदाचित् कोई यह कहे कि राजा मुनियों से शेषाक्षत आदि कैसे ग्रहण कर सकते हैं, तो इसका समाधान यह है कि राजर्षि और परमर्षि दोनों सजातीय हैं। जो क्षत्रिय नहीं हैं, वे भी दीक्षा लेकर यदि सम्यक्चारित्र धारण कर लेते हैं, तो क्षत्रिय ही हो जाते हैं, इसलिए रत्नत्रय के अधीन जन्म होने से मुनिराज भी राजाओं के समान क्षत्रिय माने जाते हैं। अतः वे राजाओं को शेषा आदि प्रदान करने के अधिकारी हैं। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि जैनेतरमतावलम्बी साधु क्षत्रियों को शेषाक्षत (अक्षतरूप शेषा) देने के अधिकारी नहीं हैं।” (४२/२७-२९)।

आदिपुराण के उक्त वर्णन से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि जिनदेव को अर्पित अक्षत, पुष्प, चन्दन आदि पूजासामग्री अर्थात् निर्माल्य ही शेषा या शेषिका है। उसे मस्तक पर रखना पुण्यास्त्रव का कारण बतलाया गया है, अतः निर्माल्य पवित्र एवं ग्राह्य है। यह बात श्री जटासिंहनन्दी ने ‘वरांगचरित’ में “जिनेन्द्रपादाम्बुरुहार्पणेन --- पूतां च पुण्यां ---।” इत्यादि उपर्युक्त श्लोक द्वारा स्पष्ट कर दी है।

आदिपुराण (भाग २) के पर्व ३९ में वर्णन है कि जब जैनयुवक का सज्जातित्व-संस्कार अर्थात् व्रत-शील देकर द्विजत्व-संस्कार किया जाता है और व्रतचिह्न के रूप में यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है (श्लोक ९३-९६), तब आचार्यगण उसे पुष्पों तथा अक्षतों की शेषा ग्रहण कराते हैं (मस्तक पर रखवाते हैं)।

लम्भयन्त्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैस्तथाक्षतैः ।

स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं परम् ॥ ३९/९७ ॥

देवता को अनर्पित द्रव्य 'शेषा' नहीं

जो पूजा सामग्री देवता को चढ़ाने से बच जाती है, वह शेषा नहीं है। पं० दौलतराम जी ने उसे ही शेषा (आशिका) माना है। (चर्चा समाधान/चर्चा ८०/पृ. ७३)। पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य का भी यही मत है। (आदिपुराण/भा.२/पर्व ३९/श्लोक ९६-९७ का अनुवाद)। किन्तु यह समीचीन नहीं है। 'जिनेन्द्रपादाम्बुरुहार्पणेन---' (वरांगचरित/२३/१०२) तथा 'मान्यमेवं जिनाङ्घ्रिस्पर्शान्माल्यादिभूषितम्' (आदिपुराण/४२/२६), इन उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि जिनेन्द्र को अर्पित द्रव्य ही 'शेषा' शब्द से अभिहित किया गया है। पूज्यपादविरचित महाभिषेकपाठ के निम्नलिखित पद्यांश में भी जिनेन्द्र के पादपद्म की अर्चना करनेवाले पुष्पादि को ही 'शेषा' कहा गया है—

पुण्याहं घोषयित्वा तदनु जिनपतेः पादपद्मार्चितां श्री-

शेषां सन्धार्य मूर्च्छां जिनपतिनिलयं त्रिःपरीत्य त्रिशुद्ध्या--- ॥४० ॥

जिनेन्द्र को अनर्पित सामग्री जिनेन्द्रचरणों से स्पृष्ट न होने के कारण पवित्र और पुण्यास्त्रवहेतु नहीं होती, अतः उसमें शेषा के गुण नहीं होते। वह सामान्यद्रव्यवत् ही होती है।

'उमास्वामी-श्रावकाचार' के निम्नलिखित श्लोक में भी निर्माल्य (देवता को चढ़ाये गये) द्रव्य को ही शेषा कहा गया है—

गन्धोदकं च शुद्ध्यर्थं शेषां सन्ततिवृद्धये ।

तिलकार्थं च सौगन्ध्यं गृह्णन् स्यान्नहि दोषभाक् ॥ १४५ ॥

इसका अनुवाद सिद्धान्ताचार्य पं० हीरालाल जी शास्त्री, न्यायतीर्थ ने इस प्रकार किया है—“यद्यपि निर्माल्य वस्तु का ग्रहण करना दोषकारक है, तथापि गन्धोदक को ग्रहण करना शुद्धि के लिये, और आशिका को ग्रहण करना सन्तानवृद्धि के लिये माना गया है। इसी प्रकार तिलक के लिए सुगन्धित चन्दन-केशर को ग्रहण करनेवाला पुरुष भी दोष का भागी नहीं होता।” (उमास्वामिश्रावकाचार/श्रावकाचारसंग्रह/भाग ३/पृ. १६४-१६५)।

यहाँ निर्माल्य वस्तुओं में से केवल गन्धोदक, शेषा (अक्षत-पुष्प) तथा चन्दन-केशर का ग्रहण निर्दोष माना गया है, शेष का सदोष। इससे सिद्ध है कि शेषा निर्माल्य (देवता को चढ़ायी गयी) वस्तु ही है।

महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी ने भी 'जयोदय' महाकाव्य में लिखा है कि राजा जयकुमार ने जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों से केशर उद्धृत कर अपने ललाट पर तिलक किया—

प्राकारि भाले तिलकं च तेन जिनाङ्घ्रिपद्मोत्थितकेशरेण ।

योगोऽभवन्मङ्गलदीपकस्य सुधांशुनेवोदयिना प्रशस्यः ॥ १९/४८ ॥

ये वचन इस तथ्य की उद्घोषणा करनेवाले आर्ष प्रमाण हैं कि निर्माल्य, मंगल (पापविनाशक एवं पुण्यवर्धक) द्रव्य है, अतएव भक्त को उसे अपने उत्तमांग (ललाट) पर धारण करना चाहिए।

इस प्रकार यदि ठौने पर चढ़ाये गये पुष्पों को शेषा (आशिका) के रूप में मस्तक पर धारण करने योग्य माना जाता है, तो इस तरह भी यह सिद्ध होता है कि वे निर्माल्य ही हैं। अतः द्रव्यार्पण-थाली में क्षेपण किये जाने पर यदि संकल्पपुष्प निर्माल्य हो जाते हैं, तो इससे तो वही कार्य सम्पन्न होता है, जो ठौने पर चढ़ाये जाने पर होता है। अतः अलग से ठौना रखने की कोई उपयोगिता नहीं है।

रतनचन्द्र जैन

सत्य की छाँव में

आचार्य श्री विद्यासागर जी

वक्ता के भी कुछ विशेषण होते हैं। दानदाताओं के भी कुछ विशेषण होते हैं। मुनि महाराज की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार जिनवाणी की भी आज परीक्षा हो रही है।

जो कोई भी व्यक्ति आज स्वाध्याय, प्रवचन यद्वा-तद्वा करते जा रहे हैं, उसके फलस्वरूप अर्थ का अनर्थ भी खूब हो रहा है। कई समस्याएँ आज समाज के समक्ष आ रही हैं। भाषा का बोध हो, उस विषय संबंधी जानकारी हो, गुरुओं के सान्निध्य में अध्ययन अनुभव प्राप्त किया हो, तो बात अलग है। ज्ञानार्णवकार ने एक स्थान पर लिखा है-

न हि भवति निर्विगोपक्रमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यन्त्यं मयूरस्य ॥

देख लीजिए आज गुरुकुल की पद्धति समाप्त हो गई। स्वाध्याय का भी कोई क्रम नहीं रहा। दो दिन ही पढ़ा नहीं और लेख लिखना प्रारम्भ कर देता है। यह सब गलत है, स्वाध्याय अपने आप नहीं हो सकता। मयूर का नृत्य बहुत अच्छा लगता है, लेकिन वह शृंगार रस के साथ-साथ वीभत्स रस को भी प्रदर्शित कर देता है। यह नहीं होना चाहिए। वीरसेन स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है, कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए उपदेश देना या श्रवण करना आवश्यक होता है। नरकों में भी सम्यग्दर्शन होता है, और वहाँ भी देव आकर सम्यग्दृष्टि बनाते हैं। हाँ, बिल्कुल ठीक है। तीसरे नरक तक जाकर उपदेश देते हैं, फिर इसके उपरान्त क्यों नहीं देते हैं? इसके उपरान्त देव नहीं जाते, तो नहीं सही, लेकिन सातों पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही हैं, वे सब मिलकर जो मिथ्यादृष्टि नारकी हैं, उन्हें सम्यग्दृष्टि बना देते? 'तत्थत्यसम्पाइट्टिठ धम्मसवणादो पढमसम्मत्तस्स उप्पत्ति किण्ण होदि त्ति वुत्ते, ण होदि, तेसिं भवसंबंधेण पुव्वबैरसंबंधेण वा परोप्पर विरुद्धाणं अणुगेज्झणुग्गाह-भावाणमसंभवादो। वहाँ के सम्यग्दृष्टि नारकी मिथ्यादृष्टि नारकियों को सम्यग्दर्शन उपलब्ध क्यों नहीं करा सकते? इसमें क्या कारण है?

'पूर्वबैरसम्बन्धात्।'

पूर्व बैर का संबंध होने से। सर्वप्रथम नारकी यही

सोचेगा कि यह जो नवागन्तुक नारकी है, कहाँ से आया है? इस प्रकार सोचने के उपरान्त वह उससे लड़ना प्रारम्भ कर देगा। पूर्व बैर होने के कारण उसका उपदेश वहाँ पर कुछ काम नहीं करेगा। पूर्व बैर होने के कारण आपके वचनों से उसका क्रोध और भड़क उठेगा।

'परस्परअनुग्राह्यअनुग्राहकभावाभावात्'

आपस में नारकियों में अनुग्राह्य और अनुग्राहक भाव तीन काल में नहीं बन सकता, क्योंकि वहाँ अनुकम्पा, दया का अभाव है। दया कब आ सकती है? जब सत्य धर्म का अनुपालन हो। हम स्वयं संयम का अनुपालन करें, तब कहीं दूसरे के ऊपर हमारा प्रभाव पड़ सकता है। यदि आपका पुत्र स्मोकिंग कर रहा है, और आप उसे रोकना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम आपको यह देखना होगा कि मेरे पास तो यह दुर्गुण नहीं है, तब आप उससे कहेंगे, तो वह मान जायेगा। 'सत्य का केवल व्याख्यान करने मात्र से समाज का कल्याण तीन काल में संभव नहीं है, किन्तु सत्य पर चलने से ही होगा।' ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र जी कहते हैं—

'अपृष्टैरपि वक्तव्यं'

बिना पूछे कहना आवश्यक है। यदि सत्य का लोप हो रहा हो, क्रियाओं में कमी आ रही हो, तो बिना पूछे सत्य (तथ्य) को रखना चाहिए। आज जो साहित्य, हमारी समाज के सामने आ रहा है, वह देखकर लगता है कि इनके माध्यम से समाज किस ओर जायेगी। जैनधर्म में भगवान् की मूर्ति का अभिषेक करना कोई आवश्यक नहीं है, 'इस प्रकार की पुस्तकें आज लिखीं जा रही हैं, और उनमें कई मूर्धन्य विद्वानों की सम्मतियाँ भी छपी हुई हैं। आप आज की नई पीढ़ी को धर्म की ओर आकृष्ट करना चाहें, तो कैसे करें? इस प्रकार का साहित्य उन्हें भ्रम में डाल देता है।

आज के स्वाध्याय का यही प्रतिफल है। सत्य को जानते हुए भी लोभ, भीरुता और विषयों के वशीभूत होकर स्वाध्यायप्रेमी, उसे उद्घाटित नहीं कर पाते। जिनेन्द्र भगवान्, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु यह व्यवहार से हैं। ये हमारे लिए कार्यकारी नहीं हैं। यह आज के विद्वानों

के मुख से सुनने को मिल रहा है। पूजन, अभिषेक, दान, उपवास, शीलाचार इत्यादि क्रियायें मात्र पुण्यबंध के लिए कारण हैं, उनसे निर्जरा नहीं होती। क्या यह सत्य है? यदि सत्य नहीं है, तो क्या असत्य है? यह असत्य है, तो इसके माध्यम से जिनवाणी विकृत नहीं होगी? जो सत्य पथ पर चल रहे हैं, वे उससे भ्रमित नहीं होंगे क्या? अवश्य होंगे, आज यह कोई नहीं कहता कि भक्ति करना कितना आवश्यक है?

मैं यह बात एक बार नहीं, बार-बार कहूँगा कि स्वाध्याय को मात्र धनोपार्जन का साधन न बनायें। और जो अच्छे विद्वान् हैं, उन्हें वेतन नहीं देना चाहिए, उनको पुरस्कृत करके, उनके माध्यम से अपने ज्ञानादि को विकसित करना चाहिए।

हमने उन विद्वानों को एक हजार, दो हजार रुपया मासिक वेतन दे दिया, यह कोई उनका मूल्य नहीं है। हजारों व्यक्ति जिसका वाचन करते, सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं, मात्र इतने में ही उसका काम हो जायेगा? नहीं वह अनमोल निधि है। आज ऐसे भी ग्रन्थ देखने को मिलते हैं, जिनमें लिखा रहता है 'सर्वाधिकार सुरक्षित।' जब आचार्य वीरसेन, आचार्य गुणभद्र के धवला, जयधवला महाधवला, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि और उमास्वामी महाराज का तत्त्वार्थसूत्र आदि जितने भी ग्रन्थ हैं, वे सब सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। यह कर्तृत्वबुद्धि का महान् मोह है, यह स्वामित्व का व्यामोह है। जब एक वस्तु का अधिकार दूसरी वस्तु पर नहीं रहता है, तो हम उनकी कृतियों पर अधिकार कैसे कर सकते हैं? दूसरा व्यक्ति यदि प्रकाशित करना चाहे, तो वह कर नहीं सकता, यह बात तो बिल्कुल गलत है, हाँ उस ग्रन्थ का सम्पादन, संशोधन कोई दूसरा व्यक्ति न करे, यह तो फिर भी ठीक है। लेकिन अधिकारवाली बात, तो होना ही नहीं चाहिए। जब बड़े-बड़े आचार्यों ने उसके ऊपर अधिकार नहीं चलाया, तो आप 'सर्वाधिकार सुरक्षित' लिखनेवाले कौन होते हैं? कुन्दकुन्ददेव ने अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे, उनमें कहीं भी अपने नाम तक का उल्लेख नहीं किया।

दान का महत्त्व वर्तमान में कम होता जा रहा है। पहले किसी दाता ने दान दिया, तो उसका उपयोग दूसरी बार नहीं होता था। दूसरी बार के लिए कोई ग्रन्थ अन्य दाता दान देता था और आजकल ट्रस्ट पर ट्रस्ट

खुलते चले जा रहे हैं, और दाताओं का पैसा न्याय और न्यायालयों में जा रहा है।

कुण्डलपुर में जब हमारा चातुर्मास चल रहा था, उस समय वर्णी ग्रंथमाला के बारे में झगड़ा चल रहा था। मैंने कहा कि वर्णी जी, तो क्षुल्लक जी थे, उनको इससे कोई मतलब नहीं था, लेकिन उनके माध्यम से आज झगड़ा क्यों हो रहा है, जहाँ पर पैसा रहेगा वहाँ पर झगड़ा नियम से होगा, तो स्वाध्याय कहाँ हुआ?

दक्षिण में बहुत अच्छी प्रथा है, किसी मंदिर में पैसा नहीं मिलेगा, इसका क्या मतलब है? मंदिरों के पीछे कोई धन-सम्पत्ति की बात नहीं होना चाहिए। निष्परिग्रही भगवान् बैठे हैं। उस मंदिर के पीछे इतना वेतन, इतना किराया, इसी में झगड़ा होने लगता है। एक-एक मंदिर के पीछे आज लाखों का किराया आता है। भैया! यह सब किसके माध्यम से होता है? मंदिर के माध्यम से। फिर ट्रस्टी, मंत्री, अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष आदि बनते हैं। इसलिये आचार्यों को लिखना पड़ा कि "जो धर्म का खाता है, वह सीधा नरक में जाता है।" जो दान का दिया हुआ द्रव्य है उसके प्रति निःस्पृहवृत्ति होनी चाहिए। दान में दिया हुआ धन अपने उपयोग में नहीं लेना चाहिए, किन्तु आज बहुत सी इस प्रकार की बातें जैनसमाज में भी आ चुकी हैं, यह महान् रुढ़िवाद है, यह कोई छोटी-मोटी रुढ़ि नहीं है, इसको पहले निकालना चाहिए।

आज संस्थाओं को लेकर जितने झगड़े हो रहे हैं, उतने इतिहास में कभी नहीं मिलते। आज विद्यालयों, संस्थाओं, ग्रन्थालयों, सबमें झगड़ा चल रहा है और कुछ नहीं, वहाँ केवल कुर्सी रहती है, डेकोरेशन रहता है और विद्यार्थियों की संख्या केवल 5-6 है, मास्टर्स की संख्या कितनी है? यह सुनकर आपको हँसी आयेगी। 5-6 विद्यार्थी और 10 मास्टर। यूनिवर्सिटी में जैनधर्म के विषय रखे जा रहे हैं। जैनधर्म पढ़ाया जायेगा, बहुत अच्छी बात है, लेकिन जैनधर्म पढ़नेवाले विद्यार्थी हैं या नहीं, यह पहले देखना अनिवार्य है।

मूलकार्य जो आवश्यक था, वह तो नहीं होता और संस्थायें खुलती जा रही हैं। सत्य का प्रदर्शन आचरण से होता है, मात्र बातों से नहीं। सत्य और असत्य को उद्घाटित करनेवाला कौन होता है? बस! एक उदाहरण देकर मैं समाप्त कर रहा हूँ।

एक विद्वान् का पुत्र, उच्च शिक्षा प्राप्त करने कहीं गया था। इसके पिता किसी मंदिर में प्रवचन, पूजा आदि करते थे। एक दिन आवश्यक कार्य के आने से बाहर चले गये, और उनका जो लड़का था, उससे कह गये कि 4-5 दिन के लिए मैं बाहर जा रहा हूँ और जब तक मैं वापस न आऊँ, तब तक तुम प्रवचन आदि करते रहना। कोई बुलाने आये तभी जाना, अपने आप नहीं जाना। गाँव में लोग कहने लगे पंडित जी चले गये, कोई बात नहीं, उनका लड़का बहुत होशियार है अभी-अभी पढ़कर आया है। यह विचार कर कुछ लोग उसके पास गये और उससे कहने लगे कि कोई बात नहीं, आपके पिताजी बाहर गये हैं, और आपको आज नहीं, तो कल यह कार्य करना ही है। आप ही प्रवचन करने चलिए। इस प्रकार लोगों की अनुनय-विनय देख वह प्रवचन करने चला गया। शास्त्र में जहाँ से पढ़ना था, वहाँ से पढ़ना शुरू कर दिया, चार-पाँच पंक्तियाँ पढ़ने के उपरांत कहा कि देखो, 'कण भर जो माँस खाता है, वह सीधा नरक चला जाता है।' सभा में हलचल मच गई। सब लोगों ने कहा- ये क्या पढ़ रहे हो? उसने पुनः दोहराया 'कण भर जो माँस खाता है', वह इतना कह ही नहीं पाता कि लोगों ने कहा कि गलत पढ़ रहे हो। उसने कहा गलत नहीं बिल्कुल सही पढ़ रहा हूँ कि 'कण भर जो माँस खाता है वह सीधा नरक जाता है।' तुम यहाँ से चले जाओ, तुम्हारा यहाँ कोई कार्य नहीं, तुम्हारे पिताजी को आने दो तभी दण्ड मिलेगा-समाज के प्रमुख व्यक्ति ने कहा। और सबने उसे निकाल दिया।

पिताजी के आते ही सब लोग उनके ऊपर टूट पड़े। तुमने कैसे लड़के को तैयार किया। आपका लड़का था इसलिए हमने कुछ नहीं कहा, इतना पढ़कर आया, फिर भी शास्त्र की छोटी सी बात नहीं समझा पाया। आपके संकोच से हमने कुछ नहीं कहा, नहीं तो सीधा जेल भेज देते। आज से आप ही शास्त्र बाँचिये, वे आगे का प्रसंग पढ़ते हैं कि 'कणभर जो माँस खाता है वह सीधा नरक को जाता है।' पं. जी क्या बात हो गई आज आप चश्मा बदलकर आये हैं क्या? नहीं-नहीं यह ठीक लिखा है, लेकिन इसका अर्थ क्या है? जो कण भर भी माँस खाता है वह नरक चला जाता है, किन्तु जो मन भर खाता है वह स्वर्ग को जाता है।

आज इस प्रकार अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है, इस प्रकार की व्याख्या सुनकर समन्तभद्र स्वामी जी की वह कारिका मेरे सामने तैरकर आ जाती है-

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
तच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-
प्रभुत्वशक्त्रेपवादहेतुः ॥

(युक्त्यनुशासन)

'समन्तभद्रस्वामी' ने बिल्कुल सही लिखा है कि हे भगवन्! आपका अद्वितीय धर्म है। इसकी शरण में आनेवाला आज तक कोई ऐसा भी नहीं है, जिसका उद्धार न हुआ हो, लेकिन बात ऐसी है अपवाद किसका हुआ है? अपवाद उस बात का है कि कलिकाल का एक मात्र अपराध है, जो महान कलुष आशयवाला है। धर्म को भी, जो अपने अनुरूप चलाना चाहता है। हंस की उपमा श्रोता को दी है। इस प्रकार की कलुषता होने के कारण ही वक्ता अर्थ बदलता है।

जिस वक्ता में
धन कंचन की आस
और पाद-पूजन की प्यास
जीवित है,
वह
जनता का जमघट देख
अवसरवादी बनता है
आगम के भाल पर
घूँघट लाता है
कथन का ढंग
बदल देता है
जैसे
झट से
अपना रंग
बदल लेता है
गिरगिट।

(तोता क्यों रोता से)

जिस वक्ता में, धन, ऐश्वर्य, ख्याति, पूजा, लाभ की चाह, लिप्सा रहती है, वह आगम के यथार्थ अर्थ को परिवर्तित कर देता है। जिस प्रकार मौसम से प्रभावित होकर के गिरगिट अपना रंग बदलता रहता है, उसी प्रकार आजकल के वक्ता भी (असंयमी व्यक्ति) माहौल

को देखकर आगम के अर्थ को बदलते रहते हैं। वह व्यक्ति तीन काल में सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता, वह जल्दी-जल्दी आगम के अर्थ को पलट देता है। इस प्रकार की वृत्ति देखकर मन ही मन जिनवाणी रोती रहती है। मेरे ऊपर तुमने घूँघट लाया है, मैं घूँघट में जीनेवाली नहीं हूँ। मैं तो जन-जन तक पहुँचकर अपना संदेश देनेवाली हूँ। लेकिन, आजकल कुछ पंक्तियाँ तो अण्डर लाइन की जाती हैं, और कुछ पंक्तियाँ अण्डर ग्राउण्ड की जाती हैं। यह क्या सत्य है? यह क्या सत्य का प्रदर्शन है? नहीं यह इसलिये हो रहा है कि आज परमार्थ के स्थान पर अर्थ ने अपनी सत्ता जमा ली है। लोगों में राजनीति, अर्थनीति आ गई है, धर्मनीति के लिए स्थान नहीं बचा।

नौजवानो! उठो !! जागो !! यदि अपना हित चाहते हो, अपनी संस्कृति को जीवित रखना चाहते हो, अपने बाप-दादाओं के आदर्शों को सुरक्षित रखना चाहते हो, तो अर्थ के लोभ में आकर कोई कार्य नहीं करना। यहाँ पर लोभ का सरलीकरण है, यहाँ पर त्याग का अंगीकरण है। यहाँ पर केवल आत्मबल की चर्चा है। परमार्थ की चर्चा है, अर्थ की चर्चा नहीं है। आप लोग कहते हैं अर्थ, तो हाथ का मैल है यूँ-यूँ करने से वह निकल जाता है (हाथ मलते हुये) पुण्य की वह छाया है। पुण्य का उदय हुआ, तो वह आ जाता है और पाप का उदय हुआ, तो वह चला जाता है। आप धार्मिक अनुष्ठान करने के लिये महापुरुष अहर्निश प्रयास करते रहते हैं। उस सत्य की झलक पाने के लिये वे अपनी आँखें बिल्कुल खोल कर रखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में कहते हैं-

‘आगमचक्खू होंति साहूणं’

आगम ही साधु की आँख है। साधुओं की आँख न तो धन-दौलत है, और न ही ख्याति, पूजा, लाभ, मंजिल तक पहुँचानेवाली आगम की आँख ही है। उस आँख को बहुत अच्छे ढंग से सम्भालकर रखना चाहिये। उस दृष्टि में जब विकार या पक्षपात आ जायेगा, तो जिनवाणी उस समय पिट जायेगी। जिनवाणी का मूल्यांकन समाप्त हो जायेगा। बन्धुओ! यह वह रत्न है, जिसको हम कहाँ रख सकते हैं देखो! समन्तभद्र स्वामी ने जो कि महान् दार्शनिक थे, अध्यात्मवेत्ता थे, उन्होंने रत्न-करण्डकश्रावकाचार के अंत में लिखा है-

**येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥**

यह कारिका कितनी अच्छी लगती है! रत्न कहाँ पर रखते हैं? ट्रेजरी में ही रखते हैं न, हाँ...! तो उसमें बहुत से खाने होते हैं, उसके अन्दर एक ऐसी डिब्बी होती है जिस डिब्बी को देखकर मुँह में पानी आ जाता है। उसकी बनावट ही अलग प्रकार की रहती है, और उसके भीतर मखमल बिछा हुआ रहता है। लाल या हरा, उस हीरे के विपरीत रंगवाला ही होता है, वह मखमल का कपड़ा है और उस मखमल पर चमकता हुआ वह रत्न, हीरे का नग रहता है।

यह हुई रत्नों की बात, लेकिन श्रावकाचार किसमें रखा गया है, रत्नकरण्डक में। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि रत्न-करण्डक का कई भाषाओं में अनुवाद हुआ लेकिन, ‘रत्नकरण्डक’ इस शब्द का अनुवाद नहीं हुआ। क्या मतलब? मतलब यह है कि हिन्दी में इसका अर्थ है ‘रयण मंजूषा’ रयण का अर्थ है रत्न, मंजूषा यानि पेटी, सन्दूकची। रत्न जैसे सन्दूकची में रखे होते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी तीन रत्नों को उन्होंने ‘रत्नकरण्डक’ में रखा है।

आचार्य कहते हैं, ये बड़ी अनमोल निधि है। जो कि बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुई है। छहढालाकार ने कहा है कि-

इह विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी।

जिस प्रकार समुद्र में मणि गिर गई, तो पुनः मिलने-वाली नहीं है, ऐसी ही मनुष्य जीवन की कीमत है। इने-गिने लोग ही इस श्रावकाचार को अपनाते हैं। तीन कम नौ करोड़ ही मुनिराज हैं, जो मूलाचार के अनुसार चलनेवाले हैं और श्रावकों की संख्या तो असंख्यात है, लेकिन मनुष्यों में नहीं। अब सोचिये बहुत कम संख्या है। अनंतानंत जीवों में से श्रावक बनने का सौभाग्य कुछ ही जीवों को होता है, जो कि आप लोगों को उपलब्ध है। ऐसे श्रावकाचार को अपनाओ। दृश्यमान पदार्थों की कोई कीमत नहीं है, हमें भी दृश्यमान पदार्थों की कीमत नहीं करना, द्रष्टा की कीमत आंकना है। आज हम दृश्य के ऊपर, ज्ञेय के ऊपर लेबिल लगाते जा रहे हैं। यह अध्यात्म नहीं है, यह सिद्धान्त नहीं है। हम ज्ञाता, द्रष्टा, आत्म-तत्त्व की मात्र चर्चा करके उसका मूल्यांकन करते

हैं, इसका मूल्यांकन क्या करें? जो स्वाध्याय करके असंख्यातगुणी निर्जरा कर रहा है। स्व और पर के लिये एक स्थान पर चर्चा आयी है कि, जो व्यक्ति आचरण करनेवाला है वह सब कुछ कर रहा है, हमारे लिये धरोहर के रूप में, क्योंकि वह चलकर दिखा रहा है। इसका बड़ा महत्त्व है। मात्र श्रावक पंडित जी (पं. पन्ना लाल साहित्याचार्य सागर) सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक हैं और आप लोग कहते हैं कि पंडित जी इसी रूप में रहें और कोई नया ग्रन्थ लिखें। मैं तो कहता हूँ कि पंडित जी को इधर, उधर के काम छोड़ देना चाहिये। बिल्कुल पन्नालाल के आगे सागर लगना चाहिये। 'पन्नालाल सागर जी' और ग्रन्थ को लिखकर समय का सदुपयोग कर आत्म कल्याण कर लेना चाहिये। इसके द्वारा पंडितजी, को समय ज्यादा मिलेगा और आपके लिये एक पंथ दो काज, दो ही नहीं दो सौ काज हो जायेंगे और बहुत काम होंगे, बहुत से लोग आकर्षित होंगे क्योंकि वर्णी जी की परम्परा को आप निभाना चाहते हैं।

वर्णी जी टोपी में नहीं थे, धोती, कमीज में नहीं थे। हमने कुण्डलपुर में आपको यही कहा था। आपने कहा था, सम्यग्दर्शन की चर्चा हमने लिख दी है, आगे लिखने का कोई विचार नहीं है। तो हमने कहा नहीं पंडित जी आगे और लिखना, पर चारित्र के बारे में आप क्या लिखेंगे?

हालांकि! पंडितजी का विकास अन्य विद्वानों की अपेक्षा चारित्र के क्षेत्र में बहुत हुआ है, और आज समाज के लिये यह सौभाग्य की बात है लेकिन, पंडितजी को मात्र सागर में रहने के कारण गड़बड़ हो जाता है। जहाँ पर रत्न, हीरा आदि निकलते हैं, वहीं पर उन्हें नहीं रखना चाहिये। उसको तो जौहरी बाजार में भेजना चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति उसको देखे, और सही-सही मूल्यांकन करे, सागरवालों को और अधिक मान मिलेगा। सागर ने कई रत्न दिये हैं, उनमें एक रत्न पंडितजी भी हैं। सागरवालों का अपने आपको उपकृत मान लेना चाहिये कि पंडितजी इस बात को अपना रहे हैं। आपके लिये यह बात बिल्कुल नहीं सोचना है कि आगे बढ़कर हम क्या करेंगे? आपका नियम से शरीर साथ देगा और वातावरण भी साथ देगा, और समाज तो साथ है ही। ज्यों ही वर्णी जी सप्तम प्रतिमा की ओर बढ़े त्यों ही समाज की दृष्टि उनकी ओर चली गयी। जब उन्होंने

सवारी का त्याग किया, तब तहलका मच गया, सवारी में अब वर्णी जी नहीं बैठेंगे, तो क्या करेंगे? हम तो उन्हें पालकी में ले जायेंगे। लोग ऐसा कहने लगे। यह त्याग का परिणाम है। अंत में जब तक घट में प्राण रहे, तब तक वे सवारी में नहीं बैठे। और क्षुल्लक जी बनकर उन्होंने जो कुछ किया वह सराहनीय है।

समन्तभद्रस्वामी ने यह ग्रन्थ बनाया है और उसका अनुकरण करना हमारा परम कर्तव्य है। पूर्वाचार्यों के ऊपर यदि हमारा उपकार होता है, तो मात्र उनके अनुसार चलने से ही होता है, मात्र कागजी घोड़े दौड़ाने से नहीं। बात ऐसी है कि जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है, तो ऐसी स्थिति में चारित्र की कोई बात ही नहीं उठती, वह तो अपने आप ही हो जाता है। सन्निपात का लक्षण उथल-पुथल ही रहता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हो, और वह चारित्र की ओर न बढ़े, यह तीन काल में सम्भव ही नहीं। शक्ति बहुत आ जाती है सन्निपात के समय, उसी प्रकार भीतर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने से और देशचारित्र अंगीकार करने के उपरान्त, मुनि कब बनें? अब आगे और हम बढ़ें, लेकिन हमारा मार्ग अवरुद्ध हो चुका है। सप्तम गुणस्थान से ऊपर चढ़ नहीं सकते। ऐसी सीमा खींच दी, अब हम क्या करें? हम और आगे बढ़ना चाहते हैं, कहाँ गये महावीर स्वामी कहाँ गये वे महाश्रमण, जिनके पास जाकर हम अपनी बात कहें। आप लोगों को मात्र ज्ञान से ही मतलब नहीं रखना चाहिये। हमारी कितनी रुचि हो गई है हेय के प्रति, और उपादेय के प्रति हमारी घृणा बढ़ती चली जा रही है और कितना उत्साह हमारे भीतर जागृत होना और आपेक्षित है। क्षेत्र के अनुसार सारी बातें ध्यान रखना चाहिये, इसलिये सत्य वह है, जैसा वह कहता है कि इसमें लिखा है कण मात्र खानेवाला नरक जाता है और मन भर खानेवाला स्वर्ग जाता है। इस प्रकार की वृत्ति, इस प्रकार का वक्तव्य, अपने को नहीं करना है।

चन्द दिनों के इस जीवन को चलाने के लिये इस प्रकार का अर्थ हमें नहीं निकालना है। सत्य का जयघोष कोई सुने या नहीं सुने, किन्तु सत्य का अनुकरण करते चले जाओ। सूर्य, आगे-आगे बढ़ता चला जाता है और नीचे प्रकाश मिलता चला जाता है, कोई अपनी खिड़की या कुटिया बन्द करके सो जाता है, उसके

लिये सूर्य कुछ कहता नहीं है कि तुम खिड़की खोलो। इसी प्रकार तीर्थ का संचालन करनेवाले भी ऐसे ही चले गये। उनके पीछे-पीछे जो हो गये, वो भी उनके साथ चले गये और रुकनेवाले हम जैसे यहीं पर हैं। यह मात्र सत्य की बात है। उसको अपनाने के लिये कोई आता है, तो ठीक, नहीं आता तो भी ठीक है। हमें सदा सत्य की छाँव में ही रहना है, सत्य वह है, जो अजर, अमर, अविनाशी है। सत्य ही जीवन है असत्य डर है, मौत है, और उसमें आकुलताएँ भी अधिक हैं। जिस शाश्वत सत्य के अभाव में आज सारी दुनियाँ विकल, त्रस्त है, उस सत्य की प्राप्ति करके उस सत्य की शीतल छाँव में बैठकर गाँधी जी ने भारत को परतन्त्रतारूपी जंजीरों से मुक्त किया था। उस सत्य को हमें जीवन में अपनाना है। उस सत्य की छाँव को हमें कभी नहीं छोड़ना है, चाहे हमारा सर्वस्व लुट जाये, हमें कोई चिन्ता नहीं है, पर सत्य की छाँव सत्य का आलम्बन, ना छोटे।

सत्यरूपी वरदान को आप छोड़िये मत, और इस असत्य के ऊपर अपने जीवन का बलिदान करिये मत। सत्य के सामने अपना जीवन अर्पण हो जाये, तो वह मात्र अर्पण ही नहीं, एक दिन दर्पण बन जायेगा। आज तक संसारी प्राणी की दशा यही हुई है। अन्त में यही कहूँगा जो श्लोक पहले कहा गया है-

**अवाक्विसर्गः वपुषैव मोक्षः मार्गं प्रशस्तं विनयेव नित्यं।
ध्यानप्रधाना समतानिधाना आचार्यवर्य सततं जयन्ति॥**

आचार्य महोदय सतत जयवंत रहे अर्थात् इस कामना के साथ अपने उन आचार्य को नमस्कार किया। केवल मोक्षमार्ग की प्ररूपणा शरीर के द्वारा, इस दिगम्बर मुद्रा के द्वारा ही की है। बोलने के द्वारा मोक्षमार्ग का प्ररूपण नहीं होता, बिना बोले ही उस स्वर्ण या अनमोल हीरे की कीमत हो जाती है। बोलने से उसकी कीमत सही नहीं मानी जाती। यह हीरा ऐसा है, जिसकी कीमत आज तक सही-सही नहीं लगाई गई, क्योंकि उसको जो खरीदनेवाला व्यक्ति मुँह माँगा दाम देकर खरीदता है। जब खान में से वह निकलता है, तब उसकी कीमत देकर खरीदता है। जब खान में से वह निकलता है तब उसकी कीमत हजार रुपये भी नहीं होती और बाजार में जाते ही उसकी कीमत लाखों की हो जाती है। बेचने-वाला और खरीदनेवाला दोनों मालामाल हो जाते हैं।

इस पवित्र जिनवाणी की बात है। इसकी छाया में जो कोई भी आया उसका जीवन निहाल हो गया। हम भी यही चाहते हैं कि उस सत्य की छाँव में आकर के हमारा जीवन जो अनादिकाल से अतृप्त है, उसे तृप्त करें, सुखमय बनायें।

'महावीर भगवान की जय'

'चरण आचरण की ओर' से साभार

'जिनभाषित'-सदस्यता शुल्क On Line

जो महानुभाव 'जिनभाषित' के सदस्य बनना चाहते हैं, वे अपना सदस्यता शुल्क निम्नलिखित बैंक एकाउण्ट में On Line जमा करा सकते हैं-

स्टेट बैंक आफ इण्डिया

सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा

एकाउण्ट नं. 10410062343

राशि जमाकर निम्नलिखित पते पर सूचित करें-

सर्वोदय जैन विद्यापीठ

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी, आगरा- 282002 (उ.प्र.)

आवश्यकता

एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो जगह-जगह जाकर 'जिनभाषित' के सदस्य बना सके। वेतन योग्यतानुसार। निम्नलिखित फोन पर तुरन्त सम्पर्क करें-

रतनलाल बैनाड़ा, मोबाइल नम्बर- 941226445

आत्म विकास के दस सोपान

आचार्य श्री विशुद्धसागर जी

भारतीय 'तत्त्व मनीषा' जगत् में गुरुता को प्राप्त है। विश्व-दर्शन भौतिक पदार्थों की ही खोज करते रहे, पुद्गलों में ही अपने ज्ञान की शक्ति का प्रयोग करते रहे। वहीं भारत में भौतिक द्रव्यों को गौण करते हुए आत्म-विकास की खोज की गई। आत्मा को परमात्मा कैसे बनाया जा सकता है? यह विद्या यदि विश्व में कहीं है, तो यह भारतीय जैनदर्शन में ही है। यहाँ किसी एक निश्चित आत्मा को भगवान् बनाकर अधिष्ठित नहीं किया गया, अपितु प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। परमात्मा बनने के लिए आत्मगुणों का क्रमिक विकास करना होता है, दुर्गुणों का बुद्धिपूर्वक त्याग करना होता है। त्यागमार्ग ही संयम-मार्ग है। जीवन को संयमित करके ही परम अवस्था की प्राप्ति संभव है।

आत्मसाधक प्रतिपल आत्मा की साधना करते हैं, फिर कुछ समय ऐसा आता है, जो मंगलभूत होता है। इसे कालमंगल भी कहते हैं। लोक में ऐसे दिनों को दशलक्षणपर्व की संज्ञा दी जाती है। सत्यार्थ में, तो यह पर्व के दिन विषयों की पूर्ति के नहीं होते, अपितु आत्म-साधना के होते हैं। खाना-पीना, पिकनिक मनाना यह पर्व का लक्षण नहीं है। जैनदर्शन में पर्व उसे कहा जाता है, जो आत्मा को पवित्र करे, आत्मा की विषयों और कषायों से रक्षा करे। आगम ग्रंथों में दो प्रकार के पर्वों का वर्णन मिलता है। एक शाश्वत पर्व, एक नैमित्तिक पर्व। शाश्वत पर्व वह होते हैं, जो त्रैकालिक होते हैं और अनादिकाल से सनातन हैं, वे शाश्वत पर्व कहलाते हैं, जैसे अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका और पर्युषण पर्व अर्थात् दशलक्षण-धर्म पर्व। ये अनैमित्तिक पर्व हैं और सृष्टि के प्रारम्भ से ही चले आ रहे हैं। नैमित्तिक पर्व वे होते हैं, जो किसी घटना-विशेष से संबंध रखते हैं, जैसे भगवान् महावीर स्वामी का जन्म-दिवस, 'महावीर जयंती' मनाते हैं। 700 मुनिराजों का उपसर्ग दूर हुआ था श्रावण पूर्णिमा को, इसलिये उस दिन को रक्षाबंधन पर्व के रूप में मनाते हैं, भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण से दीपावली पर्व मनाते हैं, ये सब नैमित्तिक पर्व हैं।

पर्वराज दशलक्षण-धर्म पर्व पर आज ध्यान देना है कि, धर्म वास्तव में वस्तु का स्वभाव है। वस्तुस्वभाव

को छोड़कर अन्य कोई धर्म नहीं है, जैसे पानी का धर्म शीतलता, अग्नि का धर्म उष्णता है, इसी प्रकार आत्मा का धर्म उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य है और ये धर्म आत्मा को छोड़कर नहीं होते। जिसके अंदर धर्म के ये 10 लक्षण घटित होते हैं, यथार्थ में वही धर्मात्मा है। जिसमें ये नहीं दिखते, वहाँ धर्म-शून्यता ही समझना चाहिये।

संक्षेप से दस धर्मों के लक्षण

1. **उत्तम क्षमा धर्म**- क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त, असह्य आक्रोश आदि के संभव होने पर भी कालुष्य भाव का नहीं होना क्षमा-धर्म है, तथा क्रोध नहीं करना, साम्यभाव को धारण करना और इन्हें कर्म का उदय समझकर समता को प्राप्त होना ही उत्तम क्षमा-धर्म है, इसलिये 'क्षमा वीरों का आभूषण है'।

2. **उत्तम मार्दव धर्म**- उत्तम जाति, कुल, रूप विद्वत्ता, ऐश्वर्य, श्रुत-ज्ञान, लाभ, वीर्य की शक्ति आदि से युक्त होने पर भी तत्कृत मद/अभिमान का अभाव होना तथा दूसरों के द्वारा पराभव के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान नहीं होना उत्तम मार्दव-धर्म है।

3. **उत्तम आर्जव धर्म**- मन, वचन, काय की सरलता आर्जव धर्म है, अथवा मन-वचन-काय की कुटिलता का अभाव आर्जव-धर्म है।

4. **उत्तम शौच धर्म**- आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति शौच है और पवित्रता (शुचिता) का भाव एवं कर्म उत्तम शौच-धर्म है।

5. **उत्तम सत्य धर्म**- सज्जनों के साथ साधुवचन बोलना सत्य है। प्रशंसनीय मनुष्यों के साथ प्रशंसनीय वचन बोलना उत्तम-सत्य-धर्म है। असत्य भाषण नहीं करना तथा कठोर एवं निंदनीय संभाषण नहीं करना ही उत्तम सत्य धर्म है।

6. **उत्तम संयम धर्म**- प्राणी एवं इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना उत्तम संयम-धर्म है।

7. **उत्तम तप धर्म**- कर्म-क्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है। विषय-कषायों का निग्रह कर ध्यान,

स्वाध्यायभावों को करके, जो आत्मा को भाते हैं, उन्हें तप धर्म की प्राप्ति होती है। यथार्थ में उत्तम तप-धर्म निर्ग्रन्थ मुनियों के ही होता है।

8. उत्तम त्याग धर्म- संपूर्ण पर-द्रव्यों से मोह का त्याग करके मन-वचन-काय से निर्वेद की भावना को प्राप्त होना त्याग है। दान देना, लोभ का अभाव होना त्याग-धर्म है। औषध, शास्त्र, अभयदान, आहारदान ये चार प्रकार के दान हैं। सत्पात्रों को निर्दोष द्रव्य का दान देना ही उत्तम त्याग-धर्म है।

9. उत्तम आकिञ्चन्य धर्म- ममेदं भाव का अभाव होना यानी पर-द्रव्यों से ममत्व का त्याग करना आकिञ्चन्य

है। परिग्रह से रहित होकर सुख-दुःख देनेवाले निज भावों का निग्रह करके जो निर्द्वन्द्व भावों को धारण करते हैं, उन अनगारों को आकिञ्चन्य धर्म की प्राप्ति होती है। एकमात्र निज स्वभाव को ही स्वीकारना और पर-पदार्थों से भिन्न रहना उत्तम आकिञ्चन्य-धर्म है।

10. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म- आत्मा ही परम ब्रह्म है। उस निजब्रह्म में लीन होना ही परम ब्रह्मचर्य है। व्यवहारिक दृष्टि से स्त्री मात्र के प्रति मातृभाव का होना, अपने से ज्येष्ठ को माता, अपने से छोटी को पुत्री, बराबर के लिए बहिन की दृष्टि से देखना उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का रामटेक में मंगल चातुर्मास

संत शिरोमणी प.पू. आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज का संसंघ मंगल पावन वर्षायोग श्री शांतिनाथ दि. जैन अतिशय क्षेत्र रामटेक जि. नागपुर (महा.) में सानंद हो रहा है।

आचार्य श्री का रामटेक में भव्य मंगल प्रवेश दि. २९.६.२००८ रविवार को हुआ।

मंगल प्रवेश बहुत ही उत्साहित वातावरण में बाजे-गाजे के साथ हुआ।

प्रवेश के समय हजारों धार्मिक बंधु उपस्थित थे। पुरुषवर्ग सफेद व महिलायें केशरी परिधान में थीं।

ज्ञात हो कि आचार्यश्री संघसहित सिलवानी (म.प्र.) से लगभग ४५० कि. मी. की पदयात्रा कर श्री रामटेक पहुँचे है। रामटेक क्षेत्र में प्रवेश के पूर्व आचार्य श्री ने मनसर में रात्रि में 'रामधाम' में विश्राम कर सुबह विश्व के सबसे बड़े ॐ का निरीक्षण किया।

वर्षायोग मंगलकलश-स्थापना का कार्यक्रम २० जुलाई २००८ को हजारों धर्मप्रेमी बंधुओं की उपस्थिति में आनंद-उत्साह के वातावरण में सम्पन्न हुआ।

आचार्यश्री के प्रवचन प्रति रविवार को दोपहर २.३० बजे से होते हैं।

देश के विभिन्न स्थानों से श्रद्धालु आचार्यश्री व अतिशयकारी १००८ भ. शांतिनाथ के दर्शनार्थ पहुँच रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि रामटेक जी में आचार्यश्री विद्यासागर जी के आशीर्वाद से पाषाण निर्मित चौबीसी एवं पंचबालयति जिनालय का निर्माणकार्य द्रुतगति से चालू है। यह वास्तु विश्व की एक अनुपम कृति होगी।

रामटेक नागपुर से लगभग ५० किमी. की दूरी पर है। नागपुर से बस व रेल सुविधा उपलब्ध है।

सम्पर्क सूत्र- सतीश जी कोयलेवाले (अध्यक्ष), ९४२३६८५७४१ वर्षायोग समिति- रमेश मोदी (महामंत्री), ९३२६१७६१०५ प्रकाशचंद जी बैसाखिया (कोषाध्यक्ष), ९८२२९२७२५५ समत जैन, मंत्री, ९८९०१२७१९१

रवीन्द्र जैन,
इंजिनियर (उपमंत्री), ९८५०३३७७८७

अरहन्त तथा केवली

पं. जवाहरलाल शास्त्री, भीण्डर

समस्त सयोग केवली व अयोग केवली की अर्हन्तता शंका- 'अट्टाईस मूलगुणों में से एक भी कम हो, तो वह साधु नहीं है, इसी प्रकार ४६ मूलगुणों के अभाव में, कोई भी जीव अरहन्तपद का अधिकारी नहीं, चाहे वह राम हो या कोई तीर्थकर। भरत राम आदि केवली ही थे, अरहन्त नहीं। सभी केवली अरहन्त हों, ऐसा नहीं है, पर सभी अरहन्त तो केवली अवश्य हैं।' इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिए। वर्णी जी ने कोश में भूल की है।

समाधान- पूज्य वर्णी जी महाविद्वान् थे। उन्होंने गलती नहीं की है। वे महान् साधक तथा प्रकाण्ड बोद्धा थे।

जैसे गुण छत्तीस पच्चीस आठ बीस, भव तारण तरण जहाज ईश। (देव-शास्त्र-गुरु-पूजा, पं. दानतराय जी) कह कर उपाध्यायों के पच्चीस गुण बताये, परन्तु इसमें कुछ विशेषता भी है-

चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः, तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा। (जीवस्थान सत्प्ररूपणा। धवला टीका)

चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं। अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं। (भगवद् वीरसेनस्वामी)

पू. ज्ञानमती माताजी ने भी इसी के अनुसार लिखा है- "जिन्हें ११ अंग और १४ पूर्वों का या उस समय के सभी प्रमुख शास्त्रों का ज्ञान है, जो मुनिसंघ के साधुओं को पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।" (बालविकास २/१६)।

इससे काँच के माफिक स्पष्ट है कि २५ गुण तो उपाध्याय के उत्कृष्टतः होते हैं। फिर तत्कालीन बहुज्ञ पाठक, गुरु, साधु भी उपाध्याय ही कहलाते हैं। यह धवला का स्पष्ट हार्द है। ऐसे ही ४६ गुण तो उत्कृष्टता की अपेक्षा हैं, अनुत्कृष्टता की अपेक्षा इनसे (४६ से) हीन गुणवाला भी अरहन्त होता है, ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

शंकाकार को अरहन्त पद का अर्थ एवं परिभाषा का ज्ञान नहीं है, इसलिए यह शंका उठी है। इसलिए

हम सर्वप्रथम अरहन्त की परिभाषा आगम में देखते हैं-

१. खविदधादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसवट्ठा अरहन्ता णाम। (धवला। बंधस्वामित्व०। तीर्थकरबंधकारण०)

अर्थ- जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल-ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है, वे अरहन्त हैं।

२. अरिहननादरिहन्ता। नरकतिर्यक्कुमानुष्यप्रेता-वासगताशेषुदुःखप्राप्तिनिमित्तत्त्वादरिर्मोहः। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्य-निष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोप-लम्भात् न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरण-प्रबन्ध-लक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्व-समानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रति-बन्धन-प्रत्ययसमर्थत्वाच्च। तस्यारेहंननादरिहन्ता। (धवला)

अर्थ- 'अरि' अर्थात् शत्रुओं के 'हननात्' अर्थात् नाश करने से 'अरिहन्त' हैं। नरक, तिर्यच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होनेवाले समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है।

शंका- केवल मोह को ही अरि मान लेने पर शेष कर्मों का व्यापार निष्फल हो जाता है?

समाधान- ऐसा नहीं है, क्योंकि बाकी के समस्त कर्म, मोह के अधीन हैं। मोह के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं, जिससे कि वे भी अपने कार्य में स्वतंत्र समझे जायें, इसलिए सच्चा अरि, मोह ही है, और शेष कर्म उसके अधीन हैं।

शंका- मोह के नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मों की सत्ता रहती है, इसलिए उनका मोह के आधीन होना नहीं बनता?

समाधान- ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मोहरूप अरि के नष्ट हो जाने पर जन्ममरण की परम्परा रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहने से, उन कर्मों का सत्त्व असत्त्व के समान हो जाता

है। तथा केवलज्ञानादि सम्पूर्ण आत्मगुणों के आविर्भाव के रोकने में समर्थ कारण होने से भी मोह प्रधान शत्रु है और "उस शत्रु (मोहनीय) के नाश करने से 'अरिहन्त' यह संज्ञा प्राप्त होती है।"

३. रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकाल-गोचरानन्तार्थव्यञ्जन-परिणामात्मक-वस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्द्रजांसि। मोहोऽपि रजः, भस्मरजसा पूरिताननामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्वाभावोपलम्भात् किमिति त्रितयस्यैव विनाशः उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्म-विनाशाविनाभावित्वात्। तेषां हननादरिहन्ता।

अर्थ- रज अर्थात् आवरण-कर्मों के विनाश से 'अरिहन्त' होते हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मधूलि की तरह बाह्य और अन्तरंगस्वरूप समस्त त्रिकाल गोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायस्वरूप वस्तुओं को विषय करनेवाले बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक होने से रज कहलाते हैं। मोह को भी रज कहते हैं। क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है, उनमें जिह्वाभाव अर्थात् कार्य की मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोह से जिनका आत्म-व्याप्त हो रहा है, उनके भी जिह्वाभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूति में कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है।

शंका- यहाँ पर तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के ही विनाश का उपदेश क्यों दिया है?

समाधान- ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि शेष सभी कर्मों का विनाश इन तीन कर्मों के विनाश का अविनाभावी है। सारतः इन तीन कर्मों के नष्ट हो जाने पर शेष कर्मों का नाश अवश्यम्भावी है। 'इस प्रकार तीन कर्मों के विनाश से अरिहन्त होते (बनते) हैं।'

४. रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्ति-कृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता।

अर्थ- अथवा, रहस्य के अभाव से भी अरिहन्त होते हैं। रहस्य अन्तरायकर्म को कहते हैं। अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन घातिया कर्मों के नाश का अविनाभावी है, और अन्तराय कर्म का नाश होने पर अघाति कर्म भ्रष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते हैं, ऐसे अन्तराय कर्म के नाश करने से अरिहन्त होते हैं।

५. णिहृद्ध-तोह-तरुणो वित्थिणाणसायरुतिण्णा। णिहय-णिय विग्घ वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला॥ दलियमयणप्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि। दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो॥ ति-रयण-तिसूलदारियमोहंघासुर-कबन्ध-बिन्द-हरा। सिद्ध सयलप्परूवा अरहंता दुण्णय कयंता॥ (भगवद् वीरसेन स्वामी)

अर्थ- अरहन्त का स्वरूप- जिन्होंने मोहरूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकार की बाधाओं से रहित हैं, अचल हैं, जिन्होंने तीनों कालों को विषय करने रूप तीन नेत्रों से कामदेव के प्रताप को दलित कर दिया है, जिन्होंने सकल पदार्थों के सार को देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् राग-द्वेष-मोह को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीन रत्नरूपी त्रिशूल के द्वारा मोहरूपी अन्धकाररूप असुर के कबन्ध जड़-को विदारित कर लिया है, जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नय (स्वकीय एकान्ताभिनवेश) का अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहन्त परमेष्ठी होते हैं।

६. आगम में अरहन्तों का लक्षण इस प्रकार भी मिलता है-

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोपोपभोगाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृत-सिद्धस्व-रूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यबिम्ब-वहेदीप्य-मानाः स्वशरीरप्रमाणोऽपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिता-शेषप्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषाम-यत्वतो निरामयाः विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलातीतत्वतो निष्कलाः, तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः। (धवला सत्प्ररूपणा)

अर्थ- अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्तविरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग आदि प्रकट हुए अनन्त गुणस्वरूप होने से, जिन्होंने यहीं पर सिद्ध-स्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुए सूर्य के बिम्ब के समान जो देदीप्यमान

हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी, जिन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही सम्पूर्ण प्रमेय रहने से^१ प्रतिभासित होने से, जो विश्वरूपता को प्राप्त हो गये हैं, सम्पूर्ण आमय अर्थात् रोगों से दूर होने के कारण जो निरामय हैं, सम्पूर्ण पापरूपी अञ्जन के समूह के नष्ट हो जाने से, जो निरंजन हैं और दोषों की कलाएँ अर्थात् सम्पूर्ण दोषों से रहित होने के कारण जो निष्कल हैं, ऐसे अरिहन्त होते हैं, उन्हें नमस्कार हो।

७. पं. रतनचन्द्र मुख्तार ने 'व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में लिखा है-

अ- 'अनन्तचतुष्टयस्वरूप अरहन्त हैं।'

(गुण० प्रकरण)

ब- देशभूषण व कुलभूषण (सामान्य केवली होते हुए भी) अरहन्त हुए। (जैन संदेश दि. ३.१.५८ पृष्ठ VI पर ब्र. स्व. मुख्तार सा. का लेख)

इस प्रकार उक्त विविध ग्रन्थों की परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि तेरहवें गुणस्थानवाले सभी जीव अरहन्त होते हैं। क्योंकि उक्त सातों परिभाषा, स्वरूपाख्यानों में कथित योग्यताएँ प्रत्येक सयोग या अयोग केवली के पाई जाती हैं। उक्त परिभाषा अन्तःस्वरूप की प्रधानता को लिए हुए है। अतः जब अन्तः स्वरूप की अपेक्षा देखते हैं, तो एक अरहन्त का दूसरे अरहन्त से किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं है। पर हाँ, जब बहिरंग स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं, तो ४६ गुणवाले यानी पंचकल्याण-की तीर्थङ्कर ही मुख्यता से अरहन्त है^२, तथा अन्य ४६ से हीन गुणवाले केवली अमुख्यता (गौणता) से अरहन्त हैं। कहा भी है- 'इहाँ अरहन्तादि पद विषै मुख्यपणे तीर्थङ्कर का अर गौणपणे समस्त केवलीनिका ग्रहण है।' (मो. मा. प्र., आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी पृष्ठ ६, धर्मपुरा देहली से प्रका.)।

नोट- यहाँ बहिरंग स्वरूप से अभिप्राय कहीं ऐसा न लिया जाय कि ४६ ही गुण बहिरंग से सम्बद्ध हैं, परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि ४६ गुणों में से, जो अन्तरंग गुण हैं, वे तो प्रत्येक केवली अर्थात् अरहन्त में पाये ही जायेंगे, समान रूप से। तथा जो बहिरंग (यथा जन्म के दस अतिशय आदि) हैं उनमें हीनाधिकता पड़ती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सयोग व अयोग

केवली सब के सब अरहन्त हैं, यह निर्विवाद है।

अर्हत्पद का अर्थ केवलोत्पत्ति

शंका- आपके कथनानुसार तो 'केवली बनना यानी केवलज्ञान की उत्पत्ति होना', बस इसका अर्थ ही अरहन्तपद पाना, ऐसा है? यह कहाँ लिखा है? आगम प्रमाण बिना कैसे माना जाय?

समाधान- हाँ, ठीक है। केवलोत्पत्ति का अर्थ ही अरहन्तपद की प्राप्ति है। अरहन्तपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवनमोक्ष कहो या केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो, ये चारों एक अर्थ को ही सूचित करते हैं।

परमपूज्य आध्यात्मिक ग्रन्थ परमात्मप्रकाश में कहा भी है-

अर्हत्पदमिति, भावमोक्ष इति, जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरिति एकोऽर्थः।

पं. दौलतरामजी का हिन्दी अर्थ- "अरहन्तपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो, या केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो- ये चारों एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। अर्थात् चारों शब्दों का एक ही अर्थ है।"

(पृ. २९९, प. प्र. दोहा. १९५ का उत्थानिका अधिकार)

आगे पृ. ३०० पर कहते हैं- "केवलज्ञानी का नाम अर्हन्त है।" (पं. दौलतराम जी)

आगे पृ. ३०० पर पुनः कहते हैं- "समस्त लोकालोक को एक ही समय में केवलज्ञान से जानता हुआ जीव अरहन्त कहलाता है।" (भावार्थ एवं मूल दोहा २/१९६ पृ. ३००)

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सभी केवली नियमतः अरहन्त होते हैं, इसमें क्या शंका?

सशरीर बाहुबली (आदि) में आर्हन्त्यसिद्धि

शंका- क्या बाहुबली भी अरहन्त कहे जा सकते हैं, जब उन्हें केवलज्ञान हुआ था?

समाधान- महापुराण (आदिपुराण) पर्व ३६ दोहा १९९ से २०४ पृ. १३०६-७ पर लिखा है- "घातिया कर्मों का क्षय होने से, जिन्हें अरहन्त परमेष्ठी का पद प्राप्त हुआ है और इसीलिए जिनकी सब देव आराधना करते हैं, ऐसे उन बाहुबली भगवान् ने समस्त पृथ्वी पर विहार किया था ॥ २०२ ॥ बाहुबलि की केवलज्ञान-उत्पत्ति सुनते ही इन्द्रादि सभी देवों ने आकर उनकी

उत्कृष्ट पूजा की थी, अर्थात् ज्ञानकल्याणक मनाया था। उस समय मन्द सुगन्धित पवन बह रही थी, आकाश में दुंदुभि बाजे बज रहे थे, तथा पुष्पवृष्टि भी हो रही थी। भगवान् बाहुबलि के ऊपर रत्नों का छत्र शोभित होता था। दिव्य सिंहासन, ढुलते हुए चामर, गन्धकुटी आदि भी बनी थी। (॥ २०० ॥ पृ. १३०६) तथा बारह सभा बनी थी। बाहुबलि नाटक (४८, आ. ज्ञानमती जी)

जो चरमशरीरियों में सबसे मुख्य थे, ऐसे भगवान् सर्वज्ञ बाहुबलि तुम लोगों की रक्षा करें ॥ २०४ ॥

(पं. लालाराम जी शास्त्री- अनुवाद)

विचार भी करना चाहिए कि केवलज्ञान होने पर सामान्य केवली को यदि अरहन्त नहीं कहा जाय, तो क्या कहा जायगा? पंच परमेष्ठी में से एक परमेष्ठी, तो वे हैं ही। सभी कर्मों के क्षय के अभाव में उन्हें सिद्ध, तो नहीं कह सकते, तथैव गन्धकुटी में बैठे हुए जीव को आचार्य भी नहीं कह सकते। क्योंकि आचार्य का गन्धकुटी में बैठना नहीं सुना। उपाध्याय का सम्बन्ध श्रुतज्ञान के वैशेष्य से है। जब कि सामान्य केवली श्रुतज्ञानातीत (श्रुतज्ञानरहित) होते हैं। एवमेव २८ मूलगुणों के विकल्प के अभाव में सामान्य साधुत्व को भी जो अतिक्रान्त कर गये हैं, तथा जो परमेष्ठी भी नियम से हैं (आदि. पु. ३६। २०२ एवं प.पु.१२२/७२) ऐसे वे पारिशेष न्याय से अरहन्त परमेष्ठी ही ठहरते हैं। सिद्ध होते हैं।

विशेष विस्तार नहीं किया जाता है। आगमानुयायियों के लिए आगम ही प्रमाण है और उससे प्रत्येक केवलज्ञानी के अर्हन्तत्व सिद्ध हो जाता है, अतः महान् ज्ञानी स्वर्गीय पूज्य वर्णी जी ने भूल या त्रुटि नहीं की थी। उन्होंने प्रत्येक केवली को अरहन्त कहकर आगम का हार्द ही व्यक्त किया है।

अरहन्त व केवली के गुणस्थान

शंका- अर्हन्त केवली, सिद्ध केवली, तीर्थंकर केवली, सातिशय केवली, उपसर्ग केवली, अन्तःकृत केवली आदि भेद अर्हन्तों के हैं या केवलियों के?

समाधान- जब परमात्मप्रकाश की टीका में ब्रह्मदेव ने लिखा है कि 'अर्हत्पदमिति केवलोत्पत्तिरिति एकोऽर्थः', तब इस शंका के उत्पन्न होने की गुंजाइश नहीं है। केवलोत्पत्ति का अर्थ ही अर्हन्त अवस्था है। केवलियों के तीन भेद (गुणस्थानों की अपेक्षा) हैं (१) सयोग

केवली, (२) अयोग केवली तथा (३) गुणस्थानातीत केवली।

अब जो-जो केवली सयोग या अयोग केवली नामक गुणस्थानों में आते, गर्भित होते हैं, वे-वे केवली अरहन्त केवली हैं या अरहन्त हैं। तथा जो गुणस्थानों को पार कर चुके हैं, ऐसे केवली 'सिद्ध' हैं। तीर्थंकर केवली, उपसर्ग केवली, अन्तःकृत केवली, मूककेवली आदि तो तेरहवें चौदहवें गुणस्थानों में स्थित होते हुए अरहन्त केवली हैं, तथा सिद्ध केवली अनरहन्त केवली (अरहन्त केवली नहीं) हैं।

अतः पूज्य वर्णी जी ने कोश में ठीक ही लिखा है, गलत नहीं- देखो (कोश १/१४१)।

'अरहन्त' व केवली में भेदाभेद

शंका- तो फिर अरहन्त व केवली में कथंचित् भी भेद नहीं है?

समाधान- अरहन्त व केवली में कथंचित् तो भेद है ही। दोनों शब्द भिन्न-भिन्न हैं, अतः वाचक भिन्नत्व की अपेक्षा भेद है। दूसरा, अरहन्त सिद्ध नहीं होते, परन्तु केवली तो सिद्ध भी, यानी सिद्ध-केवली भी होते हैं, अतः इस दृष्टि से भी भेद है। तीसरे, व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की दृष्टि से भी भेद है। यथा अरि के हनन करने से या अतिशय पूज्य होने से अथवा अजन्मा होने से अरिहन्त या अरहन्त या अरुहन्त कहलाते हैं। जबकि 'केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः।' (मो.पा.टीका / ६) अर्थात् जो निजात्मा में एकीभाव से केवते हैं, सेवते हैं या ठहरते हैं, वे केवली कहलाते हैं।

इस प्रकार वाचक भेद, गुणस्थान भेद (कथंचित्) तथा व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ-भेद से कथंचित् भिन्नता कही गई है।

कथंचित् अभेद भी है (१) दोनों का कथंचित् एक ही अर्थ है। (प.प्र. २/१९५)। दोनों शब्दों से केवलज्ञानी महात्मा ही द्योतित होते हैं। (२) दोनों ही असंसारी हैं। (३) दोनों में अनुजीवी गुणों का पूर्ण विकास है। इत्यादि साम्य होने से केवली (गुणस्थानस्थ) भी अरहन्त हैं तथा अरहन्त भी नियम से केवली हैं। इस प्रकार 'अरहन्त' व 'केवली' में कथंचित् भेदाभेद है।

जिनागम का पक्ष हठ से रहित होकर स्वाध्याय करनेवाले पुरुष के कहीं भी कुछ भी विरोध भासित

नहीं होता।

सन्दर्भ

१. 'छियालीस गुण तीर्थकर अरहन्त में ही घटित होते हैं, अन्य केवलियों में नहीं, पर वे, अरहन्त सो हैं ही। पंच परमेष्ठियों में 'केवली' कोई अलग

से परमेष्ठी नहीं हैं। वे अरहन्त ही हैं। अतः जवाहरलाल जी शास्त्री का उक्त सब कथन आगमानुकूल ही है।' (डॉ. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य)।

२. पं. जवाहरलाल जी का उक्त लेख आगमानुकूल ही है। (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य)।

समीक्षा

शताब्दीवर्ष (1905-2005) स्मारिका

प्राचार्य अभयकुमार जैन,

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदौनी, वाराणसी-10, सम्पादक- डॉ. प्रो. श्री फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' अध्यक्ष-जैनधर्म-दर्शन वि. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष- शताब्दी वर्ष, वीर निर्वाण संवत् २५३२ सन् २००६ ईस्वी, प्रकाशक- श्री स्याद्वाद महाविद्यालय भदौनी, वाराणसी -१०, मूल्य ५० रुपये, पृष्ठ संख्या - ४४+२००।

डॉ० श्री 'प्रेमी' जी के कुशल सम्पादकत्व में प्रकाशित यह स्मारिका इस महाविद्यालय का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसमें इस विद्यालय की स्थापना से लेकर उत्तरोत्तर विकास का व्यौरा है। विद्यालय के संस्थापक पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी एवं विद्यालय के प्राणभूत सिद्धान्ताचार्य पं. श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के विद्यालय के प्रति पूर्ण समर्पण अपूर्वत्याग एवं निष्ठा की परिचायक यह स्मारिका इस विद्यामंदिर की स्थापना एवं विकास में सहयोगी अन्य महानुभावों की भी जानकारी देती है। यह स्थापना इस समय के एवं बाद के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रेरक प्रसङ्गों एवं संस्मरणों को भी अपने में सजोये हुए है। साधु-साध्वियों, भट्टारकों, धीमानों, श्रेष्ठियों एवं राजनेताओं की मंगलकामनाओं के साथ-साथ इस विद्यालय में अध्ययन हेतु प्रविष्ट हुए सहस्राधिक छात्रों की विस्तृत सूची स्मारिका के अन्त में दी गई है। विद्यालय-परिवार के अतीत के अनेक दुर्लभ चित्र भी इसमें यथास्थान दिये गये हैं, जो पूर्व अध्यापकों, अधिकारियों एवं छात्रों की स्मृति दिलाते हैं। कवर पृष्ठों पर विद्यालय के भवन, छात्रावास, प्रभुघाट एवं भगवान् श्री सुपाश्वर्नाथ जिनालय के भव्य चित्र मन को मोहते हैं। इनके सिवाय अन्य अनेक पठनीय बोधप्रद आलेख भी इसमें समाविष्ट हैं। श्री मनु भट्टाचार्य द्वारा संस्कृत के १०५ पद्यों में रचित काशी-महिमा, विद्यालय की स्थापना एवं प्रगति का चित्रण विशेष उल्लेखनीय एवं सराहनीय है। डॉ. श्रीमती मुन्नीपुष्पा जैन द्वारा संकलित स्याद्वाद

के नवम अधिवेशन की जानकारी वस्तुतः एक दुर्लभ दस्तावेज है। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में यहाँ छात्रों द्वारा दिये गये सक्रिय योगदान- विषयक आलेख देशभक्ति की प्रेरणा देते हैं। इस विद्यालय एवं अध्यापकों के प्रति पूर्व स्नातकों के कृतज्ञता-द्योतक संस्मरण भी हृदयग्राही एवं प्रेरक हैं। स्मारिका सर्वांग सुन्दर है।

जैनधर्म- (एक झलक)- लेखक- डॉ. श्री अनेकान्त जैन (जैनदर्शन विभाग) श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, संस्करण-चतुर्थ सन् २००८ पृष्ठ संख्या- १२+५६=६८, मूल्य-१० रुपये। (पुनः प्रकाशन हेतु)

सरल प्रवाहयुक्त शैली और सरल सुबोध भाषा में लिखित यह लघुकृति अपने में बहुत सारे विषयों को संजोये हुए है। यह जैनधर्म की प्राचीनता, मौलिकता और उसके वैशिष्ट्य को दर्शाते हुए जैनधर्म और उसके प्रमुख सिद्धान्तों तथा पर्वों का बोध कराती है। जैनसम्प्रदाय जैनागम साहित्य एवं जैनदर्शनानुसार विश्वव्यवस्था पर भी प्रकाश डालती है। जैनधर्म एवं दर्शन विषयक अनेक भ्रान्तियों को दूर करती है। जैनधर्म एवं जैनत्व की प्रारम्भिक प्रामाणिक जानकारी के लिए यह लघुकृति अत्यन्त उपयोगी है। अतः जैनधर्म एवं दर्शन के जिज्ञासु जैन एवं जैनेतर पाठकों के लिए यह पठनीय मननीय है। युवा लेखक डॉ० अनेकान्त का यह श्रम श्लाघनीय है। सर्वजनोपयोगी इस कृति के प्रकाशन के लिए लेखक एवं प्रकाशन-संस्था भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं।

बीना

सितम्बर 2008 जिनभाषित 19

यज्ञोपवीत

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया

यज्ञोपवीत एक चर्चित विषय है। यह कहा जाता है कि यज्ञोपवीत श्रावक का अनिवार्य चिह्न है और इस चिह्न को धारण किए बिना श्रावक को दान पूजा का अधिकार नहीं है। इस विषय पर विचार करने के लिए हमें पहले यह जानना चाहिए कि यज्ञोपवीत का विधान किन-किन ग्रंथों में पाया जाता है और किस रूप में पाया जाता है। खोज के फलस्वरूप हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उपलब्ध 35 श्रावकाचारों में से आदिपुराण के अतिरिक्त और किसी भी श्रावकाचार ग्रंथ में यज्ञोपवीत का कोई वर्णन नहीं है। सागारधर्माभूत में अवश्य एक स्थान पर अध्याय 2 श्लोक 19 में सामान्य वर्णन किया गया है कि पूर्वोक्त अनंत संसार के कारण-भूत मद्य-पानादिक पापों को छोड़कर सम्यक्त्व के द्वारा विशुद्ध-बुद्धिवाला, और किया गया है यज्ञोपवीतसंस्कार जिसका, ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जैनधर्म के सुनने का अधिकारी होता है। इसी ग्रंथ में आगे श्लोक 22 में लिखा है 'वेश-भूषा, आचार-विचार और शरीर की शुद्धि से सहित शूद्र भी जैनधर्म सुनने का अधिकारी होता है। यह निर्विवाद है कि शूद्र यज्ञोपवीत का अधिकारी नहीं है। अतः बिना यज्ञोपवीत के शूद्र भी जैनधर्म श्रवण करने का अधिकारी हो सकता है। ऐसे सागार-धर्माभूत में परस्पर विरोधी कथन पाए जाने से उक्त श्लोक 19 में लिखी गई बात मान्य नहीं की जा सकती है।

अब केवल आदिपुराण में पाये जानेवाले यज्ञोपवीत के कथन पर नीचे विचार किया जा रहा है। आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण के भाग 2 पर्व 38 पृष्ठ 240 पर लिखा है कि अब मैं द्विजों की उत्पत्ति कहता हूँ। चक्रवर्ती दिग्विजय पूर्ण करने पर सुखपूर्वक भोग भोगते हुए जीवनयापन कर रहे थे। एक दिन उनके मन में यह विचार आया कि दूसरे के उपकार में मेरी संपदा का उपयोग किस प्रकार हो सकता है। मैं श्री जिनेन्द्र भगवान् का महामहयज्ञ कर धनवितरण करता हुआ सबको संतुष्ट करूँ। सदा निःस्पृह रहनेवाले मुनि, तो हमसे कुछ लेते नहीं। परंतु ऐसे गृहस्थ कौन हैं, जो धनधान्य आदि से पूजा करने योग्य हैं। सब राजाओं को अपने मित्रों सहित सत्कार योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से बुलाया। चक्रवर्ती ने अपने महल के आँगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल भरवा दिए। आनेवाले लोगों

में जो अत्रती थे, वे बिना किसी सोच विचार के हरित घास, पुष्प आदि के ऊपर से आ गए। किन्तु जो व्रती थे, वे नहीं आए। पाप से डरनेवाले हरे अंकुर व पुष्पों से भरे हुए राजा के आँगन को उल्लंघन किए बिना ही वापिस लौटने लगे। जब चक्रवर्ती ने बहुत आग्रह किया, तो वे दूसरे प्रासुक मार्ग से अंदर आए। ऐसे व्रतों में दृढ़ रहनेवाले उन व्रतियों की चक्रवर्ती ने प्रशंसा की और पद्मनाम की निधि से प्राप्त एक से लेकर ग्यारह तक की संख्यावाले ब्रह्मसूत्र (व्रत सूत्र) से उन सबके चिह्न किए। प्रतिमाओं के भेद के अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किए, उन सबका भरत जी ने सत्कार किया।

आगे आचार्य श्री जिनसेन स्वामी जी ने पर्व 38 में लिखा है कि चक्रवर्ती भरत जी ने व्रतों से संस्कारित द्विजों के लिए तीन प्रकार की क्रियाओं का विधान किया। गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया एवं कर्त्रन्वय क्रिया। गर्भान्वय क्रियाओं के 53 भेद बताए। (पर्व 38 श्लोक 51-52)। गर्भ से आठवें वर्ष में बालक की चौदहवीं उपनीति क्रिया (यज्ञोपवीत धारण क्रिया) की जाती है। पश्चात् उसकी केशमुंडन, व्रतबंधन तथा मौजीबंधन क्रियाएँ भी की जाती हैं। व्रतचर्या नामक क्रिया में तीन लर की मूँज की रस्सी बाँधने से कमर का चिह्न होता है, वह मौजीबंधन रत्नत्रय की विशुद्धि का चिह्न है। धुली हुई सफेद धोती उसकी जाँघ का चिह्न है। उसके वक्षस्थल का चिह्न सात लर का गूँथा हुआ यज्ञोपवीत है। उसके सिर का चिह्न स्वच्छ उत्कृष्ट मुंडन है। सिर मुंडन से मन वचन पवित्र होते हैं। (पृ. 249 श्लोक 113)। केवल यज्ञोपवीत ही नहीं, आचार्य जिनसेन स्वामी ने अन्य चिह्नों का भी विधान किया है।

आगे आदि पुराण भाग 2 में पर्व 40, पृष्ठ 316 पर लिखा है—

इत्थं स धर्मविजयी भरतादिराजो

धर्मक्रियासु कृतधीर्नृपलोकसाक्षि ॥

तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक्

धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम् ॥ 221 ॥

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगा

व्रतपरिचयचारुदारवृत्ताः श्रुताद्याः ।

जिनवृषभमतानुव्रज्यया पूज्यमानाः

जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥ 222 ॥

इस प्रकार जिसने धर्म के द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओं में निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है, ऐसे भरतक्षेत्र के अधिपति महाराज भरत ने राजा लोगों की साक्षी पूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजों को अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मणवर्ण की सृष्टि की अर्थात् ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की ॥ 221 ॥

इस प्रकार महाराज भरत से जिन्हें सत्कार का योग प्राप्त हुआ है, व्रतों के परिचय से जिनका चारित्र सुंदर और उदार हो गया है, जो शास्त्रों के अर्थों को जाननेवाले हैं और श्री वृषभ जिनेन्द्र के मतानुसार धारण की हुई दीक्षा से जो पूजित हो रहे हैं, ऐसे वे ब्राह्मण संसार में बहुत ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुए और खूब ही उनका आदर सम्मान किया गया ॥ 222 ॥

शिरोलिङ्गमुरोलिङ्गं लिङ्गकट्यूरुसंश्रितम् ।

लिङ्गमस्योपनीतस्य प्राग्निणीतं चतुर्विधम् ॥ 166 ॥

जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है, ऐसे बालक के लिए शिर का चिन्ह मुण्डन, वक्षःस्थल का चिन्ह यज्ञोपवीत, कमर का चिन्ह मूँज की रस्सी और जांघ का चिन्ह सफेद धोती ये चार प्रकार के चिन्ह धारण करना चाहिए। इनका निर्णय पहले ही हो चुका है।

आचार्य जिनसेन स्वामी संभवतः भरत जी के ही समय में मिथ्यादृष्टि ब्राह्मणों एवं जैनब्राह्मणों के बीच विवाद की कल्पना करते हुए, पश्चाद्वर्ती स्थिति का चित्रण करते हैं। आदिपुराण के 39 वें पर्व के श्लोक 99 से 153 में इसका विस्तार से वर्णन है। व्रतों के चिन्हरूप यज्ञोपवीत को धारण करनेवाले संस्कारितव्रती जीवन व्यतीत करनेवाले जैनब्राह्मण या देवब्राह्मण हैं। मलिन आचार के धारक हिंसा में धर्म माननेवाले स्वयं को झूठ मूठ द्विज माननेवाले कर्मचांडाल कहे जाते हैं।

इस प्रसंग में उन मिथ्यादृष्टि यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मणों का वर्णन करते हुए आचार्य जिनसेन पृष्ठ 280 श्लोक 39 वें पर्व में श्लोक 118 में लिखते हैं-

पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठकाः ।

सन्मार्गकण्ठकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥

आप लोग तो गले में सूत्रधारण कर समीचीन मार्ग में तीक्ष्ण कंटक बनते हुए पाप रूप सूत्र के अनुसार चलनेवाले हैं। केवल मल से दूषित हैं, द्विज नहीं हैं। (118) अन्य भी अनेक स्थलों पर ग्रंथकार ने यज्ञोपवीत

धारण कर व्रताचरण का पालन नहीं करनेवालों की भर्त्सना की है।

ऐसे व्यक्तियों द्वारा धारण किये गए यज्ञोपवीत को पापसूत्र कहा है। अतः स्वयं आचार्य भगवंत ने यज्ञोपवीत को व्रतधारण करने का अनिवार्य, यथेष्ट एवं वास्तविक चिन्ह नहीं माना है।

इसके अतिरिक्त निम्न तथ्य ध्यान देने योग्य हैं-

1. यज्ञोपवीत यदि श्रावक के दान पूजा के अधिकार प्राप्त करने का एक अनिवार्य चिन्ह होता, तो इस का विधान सभी श्रावकाचार के ग्रंथों में आवश्यक रूप से उपलब्ध होता। श्रावकाचार के आद्य प्रामाणिक ग्रंथ श्री रत्नकरंडश्रावकाचार में दान का, पूजा का एवं श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विशद वर्णन होते हुए भी कहीं भी यज्ञोपवीत का विधान नहीं पाया जाता। तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के बारह व्रतों का स्वरूप, अतिचार, भावनाओं आदि का तथा दान का वर्णन किया गया है, किन्तु व्रती के अनिवार्य चिन्ह यज्ञोपवीत का वर्णन क्यों नहीं किया? इसी प्रकार अन्य श्रावकाचार ग्रंथों में भी यज्ञोपवीत के अनिवार्य विधान एवं इसके बिना दान पूजा के अधिकार न होने की बात तो दूर की बात है, साधारणतया भी यज्ञोपवीत का वर्णन नहीं पाया जाता। दिगम्बर जैनसाहित्य में श्रावकाचार के जो 35 ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनमें से केवल दो ग्रंथों में यज्ञोपवीत का वर्णन मिलता है। सागार-धर्माभूत में यज्ञोपवीत के बारे में पूरे ग्रंथ में केवल एक श्लोक है। उसमें आगे के श्लोक से पूर्व में कही बात खंडित हो जाती है। यज्ञोपवीत का विस्तृत वर्णन केवल आदि-पुराण में ही पाया जाता है। किंतु वहाँ भी भरत चक्रवर्ती ने एक चौथे नये ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की है और उसकी पहचान के लिए यज्ञोपवीत का विधान किया है। यह पहचान मात्र के लिए की गयी एक सुविधा मूलक व्यवस्था थी, जो धीरे-धीरे रूढ़िपरक बन गई।

2. तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव ने तीन वर्णों की स्थापना की। उन्होंने व्रतियों का अलग वर्ण नहीं बनाया और न उन व्रतियों के अनिवार्य चिन्हस्वरूप यज्ञोपवीत का विधान किया। उन तीन वर्णवाले व्यक्तियों में, जो व्रती थे उनको एकत्र कर भरत जी ने ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की है और उन्हें पहिचान के चिन्हस्वरूप यज्ञोपवीत प्रदान किया।

3. यज्ञोपवीत धारण करने के पूर्व में भी व्रती व्यक्ति यज्ञोपवीत के बिना भी व्रतों की पालना करते हुए रह रहे थे और जिनेन्द्र पूजादि धार्मिक क्रियाएँ कर रहे थे। अतः यज्ञोपवीत धारण करना व्रतों के लिए अथवा दान पूजा करने के लिए अनिवार्य चिह्न सिद्ध नहीं होता।

4. आदिपुराणकार ने यज्ञोपवीत का उपदेश तीर्थकर भगवान् के द्वारा नहीं कराया, क्योंकि तीर्थकर भगवान् ने ऐसा उपदेश दिया ही नहीं। अतः यज्ञोपवीत का विधान द्वादशांगवाणी का अंग नहीं है। ब्राह्मणवर्ण की स्थापना और उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराने की व्यवस्था चक्रवर्ती भरत ने की, जो यद्यपि मनु होने के नाते सामाजिक व्यवस्था के लिए तो अधिकृत थे, किन्तु उन्हें धार्मिक क्षेत्र में नई स्थापनाएँ करने का अधिकार प्राप्त नहीं था।

5. यद्यपि भरत जी ने व्रती व्यक्तियों की पहिचान के लिए उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का विधान बनाया, किन्तु उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि बिना यज्ञोपवीत के श्रावक दान पूजा का अधिकारी नहीं होता है। यज्ञोपवीत के बारे में दी गई ऐसी व्यवस्थाएँ पश्चाद्वर्ती हैं और मनगढ़ंत हैं।

6. भरत द्वारा निर्मित ब्राह्मणवर्ण के बारे में तीर्थकर भगवान् ऋषभ देव ने चक्रवर्ती भरत को जो विचार दिए, वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् ने बताया कि चतुर्थकाल तक, तो व्रती ब्राह्मणों का जीवन सात्त्विक रहेगा, किन्तु आगामी काल में दोष उत्पन्न करनेवाला हो जायेगा। पंचम काल में ये लोग अपनी उच्च जाति के अहंकार के वश में होकर मोक्षमार्ग के विरोधी हो जायेंगे।

7. श्री भरत जी ने स्वयं तीर्थकर प्रभु ऋषभदेव के समक्ष अपनी गाथा कहते हुए यह स्वीकार किया है कि हे प्रभु! मैंने धर्मशासन नायक आपके विद्यमान रहते हुए ब्राह्मणवर्ण की स्थापना एवं यज्ञोपवीत का विधान करके मूर्खता का कार्य किया है। (आदि-पुराण पर्व ४१ श्लोक 32 पृष्ठ 319)। श्री भरत जी की यह स्पष्टोक्ति यज्ञोपवीत की धार्मिक वैधानिकता पर गहन प्रश्नचिह्न लगा रही है।

8. बाह्यचिह्न कभी भी अंतरंग परिणामों का नियामक रूप से सूचक नहीं होता है। यदि यज्ञोपवीत को अंतरंग व्रतों का नियामक रूप से सूचक मानेंगे, तो यज्ञोपवीत की व्यवस्था से पहले व्रतियों का अस्तित्व कैसे रहा? यज्ञोपवीत के बिना स्त्रियों में एवं तिर्यचों में व्रतों का अस्तित्व कैसे रहता है? यज्ञोपवीतधारक मिथ्यामार्ग के पोषक कैसे हो गये?

9. अनेक प्रतिष्ठा पाठों में पूजकों को पूजन के समय यज्ञोपवीत धारण कराने का विधान पाया जाता है। वे पूजक पूर्व में ही मूलगुण अथवा व्रतधारण किए हुए रहते हैं, उन्हें पूजा के समय किन व्रतों के उपलक्ष्य में यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है? संभवतः देवताओं के द्वारा मुकुट, कुंडल, माला, कंगन, वाजूबंद, कंडोरा, यज्ञोपवीत आदि आभूषण पहने जाते हैं, उन्हीं के अनुरूप मनुष्य भी जिनेन्द्र पूजा के समय विभिन्न वस्त्राभूषण पहन कर उत्साह पूर्वक पूजा करते हैं। यज्ञोपवीत एक आभूषण भी है।

10. कुंडलपुर क्षेत्र पर यज्ञोपवीत पहने देवताओं की कुछ मूर्तियाँ जिनेन्द्र भगवान् के सेवक के रूप में हैं। कुछ लोग उन मूर्तियों को यज्ञोपवीत की सिद्धि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हम यह सामान्य एवं सर्वमान्य सिद्धांत जानते हैं कि देवता व्रती नहीं होते और यज्ञोपवीत का व्रती के चिह्न के रूप में उद्भव हुआ है। अतः यह यज्ञोपवीत, जो वे देवता पहने हैं, आभूषण ही हैं व्रत-सूत्र नहीं हो सकता है।

11. वास्तव में यज्ञोपवीत को व्रती श्रावक का अनिवार्य चिह्न मानना और उसके बिना उसको दान पूजा का अधिकार नहीं होने की बात कहना न आगम-सम्मत है और न तर्कसम्मत। तथापि यदि किसी व्यक्ति को यज्ञोपवीत पहनना रुचिकर लगता है, तो वह पहने। यज्ञोपवीत पहनने से उसमें कोई अपात्रता नहीं आती और न उसके सम्यग्दर्शन का घात होता है। अतः यज्ञोपवीत का ऐसा निषेध भी उपयुक्त नहीं हैं और न उसकी अनिवार्यता का उद्घोष करते हुए, उसके अभाव में श्रावक को दान-पूजा के लिए अपात्र कहना ही उपयुक्त है। हम यज्ञोपवीत के बारे में पक्ष के अत्याग्रह को आगम के विधान पर हावी नहीं होने दें और समीचीन तर्क एवं अनुमान का सहारा लेते हुए आगम के आलोक में तत्त्व की खोज कर अपनी श्रद्धा को निर्मल बनाएँ।

समर्थन और निषेध के दोनों अतिवादों से बचकर यदि हम निष्पक्ष अनेकांतात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए धर्म की अवमानना से डरते हुए धर्म की समीचीन प्रभावना में अग्रसर रह सकें, तो हम स्वपरकल्याण की साधना कर पायेंगे।

लुहाड़िया सदन, जयपुर रोड,
मदनगंज-किशनगढ़ 305801
जिला-अजमेर (राजस्थान)

जीवन जीने की कला सिखाता है पर्वराज पर्युषण

विधानाचार्य ब्र. त्रिलोक जैन

सुख दुख की धूप-छाँव में जीवन की खुशहाली के लिये मानव प्रयासरत है और वह चाहता है कि दुनिया का सारा सुख उसका हो, दुनियाँ के सारे सुंदर फूल उसके आंगन में खिलें, सूरज का प्रकाश, तो मिले पर धूप नहीं। कुल मिलाकर मानव अच्छा मित्र, श्रेष्ठ आज्ञाकारी भाई, प्रेम करनेवाले माँ-बाप, आज्ञाकारी पति सहयोग करनेवाला पड़ोसी, सुख सुविधापूर्ण नगर आदि सब कुछ अच्छा चाहता है। पर खेद है, उसे आज कुछ भी अच्छा नहीं मिल रहा। प्रेम आज रूठ गया है, घृणा के कांटे पग-पग पर बिछे हैं, भाई-भाई में टकराव है, पड़ोसियों में कलह, आत्मीय संबंधों में बिखराव, सामाजिक क्षेत्र में भी टकराव, जहाँ देखों वहाँ असंतोष का साम्राज्य। कारण मानव आज मानवीय मूल्यों को ताक पर रख-स्वार्थ पूर्ण जिंदगी जी कर धर्म से दूर है और कष्टों के भंवर में फसने को मजबूर है। इतिहास साक्षी है मानव जब-जब धर्म से दूर हुआ, उसका पतन हुआ, धर्म हमें जीवन जीने की कला सिखाता है, धर्म की परिभाषा करते हुए आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं “धर्म प्राणीमात्र को संसार के दुखों से उठाकर परम सुख में रख देता है।” और संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। बालक पैदा होता है, माँ के आंचल में सुख खोजता है, वही बालक थोड़ा बड़ा होता है, तो खेल खिलोने में सुख खोजता है, अब माँ चाहती है बेटा मेरी गोद में बैठे, पर वह खिलोने में मस्त है, वही बालक बड़ा होता है, तो अध्ययन में, डिग्री प्राप्त करने में, सर्विस, व्यापार, आदि आजीविका के साधनों में सुख खोजता है, इसी खेल में शादी हो जाती है, दोनों जीवनसाथी एक दूसरे में सुख खोजने लगते हैं और प्रथम संतान होते ही दोनों प्राणी संतान के भविष्य में अपना सुख खोजने लगते हैं, उसके लिये नाना प्रयत्न करते हैं और जीवन का श्रेष्ठ समय निकल जाता है। बचता है बुढ़ापा, साथ में रहती है अतीत की धूप छाँव भरी स्मृतियाँ। कुल मिलाकर ये जीव माँ के आंचल से, नारी के अंक तक और नारी के अंक से मृत्यु शय्या तक, पर पदार्थों में सुख खोजता रहता है, पर सुख मिलता नहीं। अतः सुख प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय

है धर्म। जिसे आचार्य अहिंसा, दया, करुणा, प्रेम, वात्सल्य कहते हैं। इन्हीं गुणों को प्राप्त करने आचार्य भगवंत करुणा करके पर्वराज पर्युषण के निमित्त दस धर्मों के रूप में व्यक्त करते हैं। अतः मानवकल्याण के दस सोपान हैं- क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन एवं ब्रह्मचर्य। सबसे पहले पर्व की उपादेयता पर विचार करें कि पर्व क्यों आते हैं? मानवजीवन में इनका क्या महत्त्व है? पर्व नगर रक्षक की तरह हैं, जो हमारी आत्मा को विषय-कषाय रूपी चोरों से सावधान कर हमें आत्म-विकास के लिये जगाते हैं। हम प्रतिदिन अपने घर में झाड़ू लगाते हैं, पर रविवार के दिन माता-बहिनें विशेष सफाई अभियान करती हैं, जिसमें एक-एक चीज को साफ किया जाता है। ठीक इसी प्रकार उत्तम सुख के इच्छुक श्रावक धर्मात्मा जन, यद्यपि प्रतिदिन देशदर्शन, पूजन, दान आदि करते हैं, फिर भी मानवमन के साथ क्रोध, मान, माया, लोभ की समस्यायें लगी हैं, जिसके कारण कभी क्रोध से, कभी मान से, कभी मायाचारी करके और कभी लोभ के वशीभूत होकर अधर्म कर बैठता है और मन विकृत हो जाता है। अतः मन की निर्मलता के लिये अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टान्हिका, सोलह कारण-पर्व एवं पर्वराज पर्युषण नगर रक्षक की तरह आते हैं और जगाते हैं कि सावधान! मनुष्यगति विषयों की नदी में बहाने के लिये नहीं, आत्म-कल्याण करने के लिये है। प्रथम धर्म क्षमा है, जिसे मैं माँ कहता हूँ, तो माँ क्षमा कहती है, अरे बेटा! क्रोध तेरा स्वभाव नहीं है, तेरा रूप नहीं है, जरा देख, तो दर्पण में अपने चेहरे को कैसा बेकार लग रहा है, अरे छोड़ इस क्रोध को, इस आग में कब तक जलता रहेगा, आचार्य भगवंत कहते हैं क्रोध की आग से बचना है, तो अपना काम आप करो, दूसरों से अपेक्षा मत रखो, क्योंकि अपेक्षा पूरी न होने पर क्रोध आता है और मनुष्य को अपेक्षायें ही दुख देती हैं, अतः व्यक्ति के लिये ही नहीं परिवार पड़ोस एवं समाज के लिए दुखदायी क्रोध को छोड़ें और अहंकार के घोड़े से उतर कर उत्तम-मार्दव धर्म से नाता जोड़ें और याद करो ये लोकोक्ति कि ‘मान करन ते मर गये रहा न जिनका वंश, तीनन को तुम

देख लो रावण कौरव कंस'। आचार्य भगवंत कहते हैं इस संसार में नाम की भूख अच्छी नहीं, ज्ञान का, पूजा प्रतिष्ठा का, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर के सौंदर्य का अहंकार ठीक नहीं, क्योंकि ये सब क्षण भंगुर हैं। एक भूकंप के झटके में अच्छे-अच्छे महल धराशाई हो जाते हैं। मनुष्य कीर्ति के लिये मान करता है, पर ध्यान रहे कीर्ति के दास सब हैं, पर कीर्ति किसी की दासी नहीं है। अतः अहंकार को तज कर आर्जव धर्म के आलोक में जीवन को सरल बनाना चाहिये। क्योंकि मायाचारी करके किसी को धोखा देकर, किसी को ठग कर, हम मन का धन तो कर सकते हैं, पर ध्यान रहे उस धन को उपभोग करने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकते। अतः जीवन को कुटिलता के दुष्चक्र से निकाल कर, शौच-धर्म को समझना चाहिये, जो कि हमें हृदय की पवित्रता की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार से गंदे पात्र में दूध नहीं ठहरता, इस प्रकार अपवित्र हृदय में धर्म नहीं ठहरता। आकाश में जब तक घने काले बादल रहते हैं, तब तक सूर्य का दर्शन नहीं होता। इसी प्रकार जब तक हमारा हृदय क्रोध, मान, माया लोभ से मलिन है, तब तक उत्तम-सत्य-धर्म प्रकट नहीं हो सकता। क्योंकि प्राणी चारों कषायों के वशीभूत होकर असत्य बोलता है एवं अपने तथा दूसरों के प्रति अनिष्ट कार्य करता है। अतः लोभ वृत्ति छोड़ते हुए आकांक्षाओं के असीम आकाश की उड़ान स्थगित कर यथार्थ के धरातल पर जीवन के परम सत्य को समझना चाहिये कि संसार में सब मिट्टी के खिलौने हैं, जो एक दिन मिट्टी में मिल जाते हैं, पर आत्मा शाश्वत है, अजर अमर है और आत्मा की अमरता ही परम सत्य है। इस सत्य को पाने के लिये आचार्य भगवंत कहते हैं बिना संयम के आत्मा से परमात्मा की यात्रा दुर्लभ है, जिस प्रकार बिना ब्रेक के गाड़ी और बिना लगाम के घोड़ा अपने मालिक को मंजिल पर सुरक्षित नहीं पहुँचा सकते, ठीक इसी प्रकार बिना संयम के मनुष्य स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त नहीं कर सकता, मुक्ति तो दूर की बात है। मनुष्य पंच इंद्रियों की गुलामी के कारण असंयम रोग से पीड़ित है और एड्स जैसी भयानक बीमारियों से घिरा है, ये सब धार्मिक अशिक्षा एवं भारतीय मूल्यों की उपेक्षा का परिणाम है। अतः सद्गुरुओं के सान्निध्य में संयम का मूल्य समझते हुये उत्तम तप धर्म को अपनाना चाहिये, क्योंकि बिना ताप के दूध घी नहीं

बनता। तप धर्म से शारीरिक एवं आध्यात्मिक दोनों लाभ हैं, जहाँ एक ओर अनशन, उपवास, एकासन भूख से कम खाना आदि से शरीर स्वस्थ रहता है, तो मन को शांति मिलती है और स्वस्थ शरीर में ही धर्म ठहरता है और धर्मात्मा व्यक्ति ही सुख-दुख में, महल मरघट में, सोना मिट्टी में, प्रशंसा-निंदा में समभाव धारण कर त्याग के आलोक में आकिञ्चन्य-धर्म को उपलब्ध हो पाता है, कि मेरा इस जगह में मेरी आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी मेरा नहीं है और आकिञ्चन्य व्यक्ति ही ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होता है, क्योंकि जब तक प्राणी 'पर' को 'स्व' मान रहा है, तब तक 'स्व' द्रव्य के दर्शन नहीं और आत्म साक्षात्कार के बिना ब्रह्म में रमण ब्रह्मचर्य कैसे हो सकता है। ब्रह्मचर्य ज्यादा कठिन नहीं है, बस इतना ही है कि श्रावक अपने घर में रहे अर्थात् अपनी पत्नी को छोड़कर शेष सभी माता बहिनों को उस दृष्टि से देखे, जिसमें काम का नहीं राम का वास रहता है, और साधक अपने में रहे, अपने को देखे और अपने को ही भोगे।

इसी में जीवन की सार्थकता है। अतः क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से मायाचार को और शौच-धर्म से लोभ को जीतते हुये, सत्य के आलोक में संयम प्राप्त कर, उत्तम तप त्याग द्वारा आत्म शोधन कर आकिञ्चन्य होते हुए, ब्रह्मचर्य को प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि यही मनुष्य जीवन का श्रेष्ठ उपयोग है। पर्व के अंत में क्षमावाणी की सार्थक परम्परा को भी जीवित रखना चाहिये। सामूहिक भोज रखकर हम क्षमावाणी नहीं मना सकते। अरे मित्रों से तो रोज मिलते हैं, मित्रों को तो रोज खिलाते हैं, अपनों से, तो सभी प्रेम करते हैं, आज, तो उनसे मिलने की बारी है, जिन्हें हम शत्रु समझते हैं, जिन्हें पराया मानते हैं, इसी में पर्व की सार्थकता है। कारण मानवमन में सद्भावों का विकास ही पर्व का ध्येय है। अतः हम सब सद्भावों के परम शिखरों को छूते हुए परम सुख को प्राप्त हों, इसी सद्भावना के साथ---

सत्य से साकार हो जीवन सभी का,
बढ़े सभी प्रगति के नूतन पथों पर।
मङ्गलमयी सद्भावना है,
मम यही शुभकामना है॥

श्री वर्णी दिगम्बर जैन
गुरुकुल पिसनहारी जबलपुर-3

जिज्ञासा-समाधान

पं. रतनलाल बैनाड़ा

प्रश्नकर्ता- रवीन्द्र कुमार जैन दमोह।

जिज्ञासा- विजयार्थ पर्वत पर कैसी व्यवस्था है, विद्याधर लोग कैसे रहते हैं आदि के बारे में विस्तृत रूप से समझायें?

समाधान- विजयार्थ पर्वत के संबंध में तिलोयपण्णत्ति अधिकार 4, राजवार्तिक 3/10, सर्वार्थसिद्धि, महापुराण सर्ग 18, 19, श्री धवला पु.9, तत्त्वार्थमंजूषा आदि में जानकारी दी गई है। उनके आधार से यहाँ समाधान दिया जा रहा है।

भरत क्षेत्र के मध्य में उत्तम रत्नों से रमणीय रजतमय विजयार्थ नामक पर्वत है, जो पूर्व से पश्चिम तक लम्बा है। चक्रवर्ती की यहाँ तक आधी विजय होती है, अतः इसका नाम विजयार्थ है। इसकी चौड़ाई 50 योजन, ऊँचाई 25 योजन तथा नींव 6¼ योजन है। इन पर्वतों पर तलहटी से दस योजन ऊपर, दोनों ओर 10-10 योजन चौड़ी तथा पर्वत के बराबर लम्बी दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं। जिनमें दक्षिण में 50 तथा उत्तर दिशा में 60 विद्याधरों के नगर हैं। इन नगरों से 10 योजन ऊपर व्यंतर देवों के निवास तथा एक अकृत्रिम जिनालय है।

विजयार्थ पर्वत पर रहनेवाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं। सब विद्याओं को छोड़कर संयम को ग्रहण करनेवाले भी विद्याधर होते हैं। क्योंकि विद्याविषयक विज्ञान उनमें पाया जाता है। जिन्होंने विद्यानुवाद को पढ़ लिया है, वे भी विद्याधर हैं, क्योंकि उनके भी विद्याविषयक ज्ञान पाया जाता है। विजयार्थ पर्वत पर रहनेवाले विद्याधर यद्यपि भरतक्षेत्र के मनुष्यों के समान षट्कर्मों से ही आजीविका करते हैं, परन्तु प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं को धारण करने के कारण विद्याधर कहलाते हैं। इनको कुछ विद्यायें तो कुल परम्परा से ही प्राप्त हो जाती हैं तथा कुछ विद्यायें यत्नपूर्वक आराधना से प्राप्त होती हैं। इनमें रोहिणी आदि 500 महाविद्यायें होती हैं और अंगुष्ठप्रसेनादि 700 लघु विद्यायें होती हैं।

विद्याधरों की उत्कृष्ट आयु 1 करोड़ पूर्व तथा जघन्य आयु 100 वर्ष होती है। शरीर की ऊँचाई 500 धनुष से 7 हाथ तक होती है (उत्कृष्ट एवं जघन्य)।

विजयार्थ पर्वत पर ऋतु परिवर्तन होता है। निजसेना तथा परसेना के युद्ध का भय, अतिवृष्टि तथा रोग जनित बाधाएँ नहीं होतीं। यहाँ चारित्र से विभूषित मुनिराजों का बहुसंख्या में सदैव विहार पाया जाता है। यहाँ चतुर लोग विवाह आदि उत्सवों में अरिहंत देव की तथा दुःख आदि आ पड़ने पर उसके निवारणार्थ जिनालय में जिनेन्द्र-देव की ही पूजा करते हैं। निरंतर जिनवाणी के पठन-पाठन में सभी लगे रहते हैं। यहाँ मिथ्यादेवों के कहीं भी मंदिर नहीं हैं, तथा वेदकथित धर्म का अभाव है। सर्वत्र तीर्थकरों के ही जिनालय हैं, तथा एकमात्र जैनधर्म ही प्रवर्तता है। यहाँ के मनुष्य धर्मपालन कर स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यहाँ गुणस्थान 1 से १४ तक, अर्थात् सभी पाये जाते हैं। काल (पहले से छठे काल तक) परिवर्तन तथा प्रलय यहाँ कभी नहीं होता है।

प्रश्नकर्ता- श्री नितिन वसंतराव वसमत।

जिज्ञासा- असातावेदनीय का उत्कृष्टउदय काल कितना है?

समाधान- इस प्रकरण पर श्री धवला पु. १५/६२/२ में इस प्रकार कहा है-

“असादस्स जहण्णाण एग समओ, उक्कस्सेण तेत्तीस सागरोपमाणि अंतोमुहुत्तमहियाणि। कुदो। सत्तम पुढवि पवेसादो पुक्वं पच्छा च असादस्स अंतोमुहुत्त-मेत्तकालमुदीरणुवलंभादो।”

अर्थ- असातावेदनीय की उदीरणा का काल जघन्य से एक समय और उत्कर्षतः अंतर्मुहूर्त से अधिक तेत्तीस सागरोपम प्रमाण है, क्योंकि सातवीं पृथ्वी में प्रवेश करने से पूर्व और पश्चात् अंतर्मुहूर्तमात्र काल तक असाता वेदनीय की उदीरणा पाई जाती है।

जिज्ञासा- किमिच्छक दान क्या होता है और इसे कौन कैसे देता है?

समाधान- किमिच्छकदान चक्रवर्ती के द्वारा दिया जाता है, जो वह कल्पद्रुम पूजा के अवसर पर देता है। सागारधर्मांमृत 2/28 में इस प्रकार कहा है-

किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः।

चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥ 2/28 ॥

अर्थ- सभी जीवों की इच्छा के अनुसार दान के

द्वारा (किमिच्छक दान देकर) जगत की आशा को पूरित करके जो अरहंत भगवान् की पूजा चक्रवर्तियों के द्वारा की जाती है वह कल्पद्रुम पूजा कही जाती है।

भावार्थ- चक्रवर्ती के छहखण्ड की विजय प्राप्त करने के बाद, उनके साम्राज्यपद का अभिषेक होता है। उस समय वे अपने अधीनस्थ सभी राजाओं तथा प्रजा से "आप क्या चाहते हैं, ऐसा प्रश्न करते हैं। वे लोग जो-जो माँगते हैं, उनको वह सब देकर उनकी इच्छायें पूर्ण की जाती हैं, अर्थात् उनको किमिच्छक दान देकर संतुष्ट किया जाता है।" इस प्रकार संतुष्ट करके, जो पूजा चक्रवर्ती के द्वारा की जाती है, उसे कल्पद्रुम कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता- कु. मनीषा पैठ बड़गाँव।

जिज्ञासा- जिसने नीचे के नरकों की अधिक आयु बाँध ली हो, तो क्या वह अपने वेदकसम्यक्त्व द्वारा उसे घटाकर प्रथम नरक की कर सकता है?

समाधान- इस प्रश्न का उत्तर किसी ग्रंथ में स्पष्ट रूप से पढ़ने में नहीं आया, न कभी पू. आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के श्रीमुख से ही सुना गया। फिर भी निम्न प्रमाण द्रष्टव्य है-

हरिवंश पुराण सर्ग 2 श्लोक 136-138 में इस प्रकार कहा है-

श्रेणिकेन तु यत्पूर्वं बह्वारंभपरिग्रहात्।

परस्थितिकमारब्धं नरकायुस्तमस्तमे ॥ 136 ॥

तत्तु क्षायिकसम्यक्त्वात् स्वस्थितिं प्रथमक्षितौ।

प्रापद्वर्षसहस्राणामशीतिं चतुरुत्तराम् ॥ 137 ॥

त्रयस्त्रिंशत् समुद्राः क्व क्व चयं मध्यमा स्थितिः।

अहो क्षायिकसम्यक्त्वप्रभावोऽयमनुत्तरः ॥ 138 ॥

अर्थ- राजा श्रेणिक ने पहले बहुत आरंभ और परिग्रह के कारण तमस्तमः नामक सातवें नरक की, जो उत्कृष्ट स्थिति बाँध रखी थी, उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से प्रथम पृथ्वी संबंधी चौरासी हजार वर्ष की मध्यम स्थितिरूप कर दिया। (136-137)। गौतम स्वामी कहते हैं कि कहाँ तो तेतीस सागर और कहाँ यह जघन्य स्थिति? अहो! क्षायिक सम्यग्दर्शन का यह अद्भुत लोकोत्तर माहात्म्य है। 138।

2. पं. रतनचन्द्र जी मुख्तार व्यक्तित्व एवं कृतित्व (नया प्रकाशन) पृष्ठ 485 पर ऐसे ही एक प्रश्न का उत्तर पं. रतनचन्द्र जी मुख्तार ने इस प्रकार दिया है-

"मिथ्यादृष्टि तापसी सप्तम पृथ्वी की आयु को छेदकर प्रथम पृथ्वी की आयु प्रमाण नहीं कर सकता। क्षायिक सम्यग्दृष्टि या कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि ही सप्तम पृथ्वी की आयु का छेदन कर उसे प्रथम पृथ्वी की आयु प्रमाण कर सकता है। श्री कृष्ण जी तीसरी पृथ्वी की आयु को छेदकर प्रथम पृथ्वी की नहीं कर सके, यद्यपि उनको (बाद में) वेदक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया था और तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी प्रारंभ हो गया था।

उपर्युक्त प्रमाणानुसार नरकस्थिति के छेद में क्षायिक अथवा कृतकृत्यवेदक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को ही कारण मानना उचित प्रतीत होता है।

जिज्ञासा- देव तथा नारकियों के आयुकर्म की उदीरणा प्रति समय होती है, तो उनका अकालमरण क्यों नहीं हो सकता?

समाधान- सामान्य नियम तो यह है कि जिस कर्म का जहाँ उदय होता है, वहाँ उसकी उदीरणा भी होती ही है। कर्मकाण्ड में इस प्रकार कहा है-

उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो।

मोत्तूण तिण्णि ठाणं पमत्त जोगी अजोगी य ॥ 278 ॥

अर्थ- उदय और उदीरणा रूप प्रकृतियों में स्वामीपने की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है, किन्तु प्रमत्त, सयोग-केवली तथा अयोगकेवली इन गुणस्थानों को छोड़ देना, क्योंकि इन तीनों गुणस्थानों में ही विशेषता है, शेष गुणस्थानों में समानता ही है

उदीरणा चार प्रकार की है- प्रकृति-उदीरणा, स्थिति-उदीरणा, अनुभाग-उदीरणा, तथा प्रदेश-उदीरणा। (देखें श्री धवला 15/43)

उपर्युक्त सामान्य नियम के अनुसार नरकायु तथा देवायु के उदय के साथ उदीरणा भी नियम से होती है। परन्तु उनका अकालमरण नहीं हो सकता, क्योंकि इन उपपाद जन्मवाले जीवों के, प्रदेश-उदीरणा होती है, पर स्थिति-उदीरणा नहीं होती। अकालमरण तो स्थिति-उदीरणा होने पर होता है। अतः केवल प्रदेश-उदीरणा होने से आयु की स्थिति नहीं घटती, मात्र प्रदेशों की ही उदीरणा होती है। इस स्थिति में अकालमरण संभव नहीं होता।

प्रश्नकर्ता- पं. जीवन्धर कुमार शास्त्री देहली।

जिज्ञासा- क्या मुनि या आर्यिका, पंखा, कूलर,

ए.सी. का प्रयोग करते हुए अहिंसा महाव्रत का पालन कर सकते हैं?

समाधान- इस जिज्ञासा के समाधान में सर्वप्रथम अहिंसा महाव्रत की परिभाषा जान लेना चाहिये। अहिंसा महाव्रत की परिभाषा मूलाचार में इस प्रकार कही है-

एइंदियादिपाणा पंचविहावज्जभीरुणा सम्मं।

ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥ 289 ॥

अर्थ- एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु को सम्यक् प्रकार से मन-वचन-कायपूर्वक उन जीवों की निश्चितरूप से हिंसा नहीं करना चाहिये। **आचार वृत्ति-** एक इंद्रिय है जिनकी, वे एकेन्द्रिय हैं। यहाँ प्राण शब्द से जीवों को लिया है। वे कितने हैं? पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु मुनि को स्पष्टतया, सम्यक् विधान से, उनकी हिंसा नहीं करना चाहिये। मन-वचन-काय से सर्वत्र अर्थात् सर्वकाल में सर्वदेश में अथवा सभी भावों में इन जीवों को पीड़ित नहीं करना चाहिये, न कराना चाहिये और न करते हुये की अनुमोदना ही करना चाहिये। यह अहिंसा महाव्रत है।

उपर्युक्त संदर्भानुसार यदि कोई महाव्रती (मुनि या आर्यिका) पंखे का प्रयोग करते हैं, तो निश्चित रूप से बादर वायुकायिक जीव तथा छोटे-छोटे त्रस जीवों की हिंसा होती ही है। कूलर चलाने में बादर वायुकायिक जीव, जलकायिक जीव तथा त्रसजीवों का वध होता ही है। ए.सी. चलाने में, वायुकायिक बादरजीव, अग्निकायिक जीव तथा त्रसजीवों का वध होता ही है। इन सब जीवों की हिंसा हमको प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अतः इन सुविधाओं का प्रयोग करनेवाले साधु या आर्यिका का अहिंसा महाव्रत पालन होना कदापि संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त शरीर की सुविधा या गर्मी दूर करने के लिये इन सुविधाओं का प्रयोग करने पर 'स्पर्शन इन्द्रियजय' नामक मूलगुण कैसे सुरक्षित रह सकता है? कदापि नहीं रह सकता। महाव्रती को इलेक्ट्रिक प्रयोग भी वर्जित है। अतः यह भी दोष लगता ही है।

वर्तमान में देखा जाता है कि कुछ साधु या आर्यिकायें स्वयं तो इन साधनों का प्रयोग नहीं करते अर्थात् स्वयं पंखा-कूलर आदि नहीं चलाते हैं, पर अन्य गृहस्थों के द्वारा चलाये जाने पर उसके नीचे या सामने जाकर बैठ जाते हैं, यह भी उचित नहीं है। उनको उनके नीचे

या सामने नहीं बैठना चाहिये। या तो वह स्थान छोड़ देना चाहिये या गृहस्थ को कहकर पंखा आदि बंद करवा देना चाहिये। अन्यथा अनुमोदना का दोष लगने पर अहिंसा महाव्रत नहीं रह पायेगा। आजकल कुछ क्षेत्रों या मंदिरों में ऐसे ध्यान कक्ष बना दिये गये हैं जो वातानुकूलित हैं। यदि उनमें बैठकर सामायिक आदि किया जाता है, तो भी अनुमोदना का दोष लगने से अहिंसा महाव्रत तथा स्पर्शन इंद्रियजय मूलगुण कैसे रह सकेंगे? उपर्युक्त मूलाचार की परिभाषा में तो कृत-कारित-अनुमोदना तथा मन-वचन-काय से छहकाय के जीवों की रक्षा का विधान है। क्या ऐसी सुविधायें लेना, इस परिभाषा में आ पायेगा?

वर्तमान में कुछ साधु-आर्यिकाओं ने, तो अपने रहने के कमरे वातानुकूलित ही बनवा रखे हैं। वे जहाँ चातुर्मास करते हैं वहाँ इन साधनों की व्यवस्था कहकर पहले ही करवा लेते हैं। क्या यह महान् शिथिलाचार नहीं है? में अभी एक स्थान पर गया था। वहाँ के श्रावकों ने बताया कि यहाँ एक मुनि आये थे। उन्होंने पंखा प्रयोग किया। हमने मना किया तो उन्होंने कहा कि गर्मी लगती है। तब हमने कहा कि आप मुनि हैं। आपको यह प्रयोग उचित नहीं। अन्यथा हम व्यवस्था नहीं कर सकेंगे। वे मुनि वहाँ से विहार कर गये। हम श्रावकों को चाहिये कि मुनि के २८ मूलगुणों को अच्छी प्रकार समझें और उनका पालन करनेवाले साधुओं की ही व्यवस्था करें। पू. चा.च.आ. शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार, शिथिलाचारी साधुओं की उपेक्षा करें। अन्यथा इस बढ़ते हुये शिथिलाचार पर अंकुश लगाना कैसे संभव हो सकेगा? आशा है सभी साधर्मि भाई तथा सभी समाज के कार्य-कर्तागण, उपर्युक्त आगमानुसार भावना बनाते हुये आगम की मर्यादा के अनुसार ही साधुसेवा करने का संकल्प लेंगे, मर्यादा का उल्लंघन करते हुये शिथिलाचार के पोषण में सहभागी नहीं बनेंगे।

नोट- इसी प्रकार शीत ऋतु में हीटर, अंगीठी या हैलोजन बल्ब की गर्मी लेना भी बिलकुल आगम-सम्मत नहीं है।

१/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा (उ.प्र.)

पुस्तक का नाम- 'धवल कीर्तिमान्' (धर्मरक्षण एवं संघर्ष की कहानी) श्री भारतवर्षीय दि. जैनसंघ मथुरा का इतिहास, लेखक सम्पादक - डॉ. कूपरचंद जैन, डॉ. ज्योति जैन (खतौली), प्रकाशक- श्री ताराचंद प्रेमी, महामंत्री श्री भा.दि. जैन संघ, चौरासी मथुरा, (उ.प्र.) फोन: 0565-2420711, पृष्ठ- 200+32 पृष्ठ फोटोग्राफ, संस्करण- प्रथम 2008, मूल्य-100 रूपया

“धवल कीर्तिमान्” पुस्तक में भारतवर्षीय दिगम्बर जैनसंघ के स्वर्णिम इतिहास को दर्शाया गया है। यह जैन इतिहास का जीवन्त दस्तावेज है। जैनधर्म और संस्कृति के संरक्षण में भा. दि. जैनसंघ के कार्य मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। जैनआगम-साहित्य के प्रकाशन का वीणा उठाकर संघ ने, जो कार्य किया वह अपनी उपमा आप है। यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आज जो जैनधर्म का गौरव है, वह ऐसी संस्थाओं द्वारा ही सुरक्षित रखा गया है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में, विशेषतः उत्तर भारत में आर्यसमाज का बोलबाला था। आर्यसमाजी अन्य धर्मों के साथ जैनधर्म पर भी अनर्गल, असंगत और अवास्तविक वाक्-प्रहार करते थे। यदि कोई कुछ बोलता, तो शास्त्रार्थ की चुनौती दे डालते थे। जैन-जनता इससे भय-भीत रहती थी। जैन भाई किसी भी शहर/देहात में अपना कोई धार्मिक आयोजन करने में डरते थे। अनेक बन्धु जैनधर्म छोड़कर आर्यसमाजी होने की सोच रहे थे। ऐसे समय में संघर्ष हेतु एक सशक्त संगठन की आवश्यकता थी। परिणामस्वरूप 1930 ई. में अम्बाला में संगठित होकर शास्त्रार्थ करने हेतु श्री भारतवर्षीय दि. जैन शास्त्रार्थ संघ की स्थापना हुई। संघ ने लगभग 250 स्थानों पर आर्य समाज के साथ शास्त्रार्थ किया। लाला शिब्यामल जी, पं. राजेन्द्र कुमार जी, पं. तुलसीराम जी, पं. अजित कुमार जी, मुल्तान, पं. मंगलसेन जी, पानीपत आदि ने अपने तलस्पर्शी ज्ञान और सटीक तर्कणा से, जिस तरह आर्यसमाजी विद्वानों की बोलती बन्द की, वह जैन इतिहास का रोमांचकारी अध्याय है। इसी शास्त्रार्थ के इतिहास को प्रस्तुत पुस्तक में दर्शाया गया है।

उस समय आर्यसमाज की ओर से स्वामी कर्मानन्द जी शास्त्रार्थ करते थे। वे इस समाज के सबसे बड़े विद्वान् थे, किंतु शास्त्रार्थों में वे जैनधर्म से इतने प्रभावित हुए कि

उन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया और पूज्य गणेश प्रसाद जी 'वर्णी' से क्षुल्लक दीक्षा ले ली और क्षुल्लक निजानन्द सागर के नाम से विख्यात हुए।

शास्त्रार्थों का दौर समाप्त हुआ, तो संघ के नाम से शास्त्रार्थ शब्द हटा दिया गया। मथुरा में, उसका भव्य भवन बना जहाँ विशाल परिसर के साथ एक समृद्ध पुस्तकालय है। 1939 ई. से संघ का मुख पत्र 'जैन सन्देश' प्रारम्भ हुआ। यह आरम्भ में आगरा से छपा। पं. कूपरचंद जी इसे प्रकाशित करते थे। जैन सन्देश ने शोधांकों का प्रकाशन कर शोध और खोज के क्षेत्र में जो भूमिका निभाई वह अद्वितीय है। आज भी उसके लेख अपना महत्त्व रखते हैं।

संघ का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य जैन-आगम-ग्रन्थों का प्रकाशन है। 'कसायपाहुड' के 16 भाग प्रकाशित कर संघ ने जिनागम की सुरक्षा का भगीरथ कार्य किया है। अन्य भी 20 पुस्तकों का प्रकाशन संघ ने किया है।

'धवल कीर्तिमान्' पुस्तक को तीन अध्यायों में बाँटा गया है, जिन्हें धवल कीर्तिमान् नाम दिया गया है। धवल कीर्तिमान्- एक में संघ की स्थापना, उसके द्वारा किये गये शास्त्रार्थ, मुनि धर्मोपसर्ग निवारण, कुडची तथा खेकड़ा काण्ड में संघ की भूमिका, जैनइतिहास पर हुए कटाक्षों का जवाब आदि विषयों को दर्शाया गया है। धवल कीर्तिमान्- दो में जैनसन्देश और उसके शोधकों का विवरण तथा धवल कीर्तिमान्- तीन में संघद्वारा प्रकाशित 35 पुस्तकों का परिचय दिया गया है।

पुस्तक का लेखन अछूते विषयों पर लिखनेवाले तथा 'स्वतंत्रता संग्राम में जैन' ग्रन्थ के लेखक- इतिहासकार डॉ. कूपरचंद्र जैन और डॉ. ज्योति जैन (खतौली) ने किया है। पुस्तक की छपाई और कागज नयनाभिराम हैं।

यह कृति नयी पीढ़ी को नयी सोच, नया जोश और नया उत्साह प्रदान करेगी। इसे पढ़कर नौजवान धर्मरक्षा के लिए कटिबद्ध होंगे। इसमें सन्देश नहीं।

फिरोजाबाद, (उ.प्र.)

इन्हें जानिए और लाभ लें

केन्द्र एवं राज्य शासनों के द्वारा समय-समय पर जनता को सुविधा प्रदान करने हेतु परिपत्र या अधिसूचनाएँ जारी की जाती हैं। उनकी समुचित जानकारी के अभाव में शासन द्वारा प्रदत्त सुविधाओं / व्यवस्थाओं का लाभ लेने से जन सामान्य वंचित रह जाता है। मध्यप्रदेश शासन के द्वारा निर्गमित तीन शासनादेशों को नीचे सूचित किया जा रहा है। इनके आधार से मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के निवासी इनका सुदपयोग कर/करा सकते हैं। साथ ही अन्य राज्यों में स्थित व्यक्ति अपने प्रदेश में इस प्रकार के शासनादेशों की जानकारी प्राप्त करके जन सामान्य को सुलभ कराने हेतु प्रचारित कर सकते हैं। कदाचित् इस प्रकार के शासनादेश अन्य प्रान्तों में यदि वर्तमान में जारी नहीं किए गए हों, तो प्रबुद्ध एवं जागरूक श्रावक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं के पदाधिकारी, राजनैतिक दलों से सम्बद्ध कार्यकर्ताओं से भी अपेक्षा की जाती है कि वे इस प्रकार के शासनादेश अपने प्रदेशों में भी निर्गमित कराने हेतु सार्थक एवं समुचित प्रयास करें।

अ- मध्यप्रदेश के राज्यपाल के नाम तथा आदेशानुसार मध्यप्रदेश शासन के सामान्य प्रशासन विभाग के अवर सचिव बी.एस. वर्मा के हस्ताक्षर से परिपत्र क्रमांक/एम-३/१५/८५/१/४ भोपाल, दिनांक २ अगस्त १९८५ को प्रसारित किया गया था। म.प्र. शासन के समस्त विभाग, अध्यक्ष-राजस्व मंडल-ग्वालियर, समस्त संभागाध्यक्ष, समस्त विभागाध्यक्ष एवं समस्त जिलाध्यक्षों को 'अनंत चतुर्दशी के उपलक्ष्य में जैन धर्मावलम्बी शासकीय कर्मचारियों को विशेष आकस्मिक अवकाश दिये जाने बावत्' निर्देश जारी किया गया था।

उपर्युक्त परिपत्र में निर्देशित किया है कि "राज्य शासन द्वारा निर्णय लिया गया है कि अनंत चतुर्दशी पर्व के उपलक्ष्य में शासकीय सेवाओं / संस्थाओं में कार्यरत सभी जैन धर्मावलम्बी कर्मचारियों को विशेष आकस्मिक अवकाश स्वीकृत किया जाय। यह विशेष आकस्मिक अवकाश उन्हीं कर्मचारियों को देय होगा जिन्होंने इस दिन के अवकाश के लिए प्रार्थना पत्र

प्रस्तुत किया हो।"

ब- मध्यप्रदेश के राज्यपाल के नाम से तथा आदेशानुसार मध्यप्रदेश शासन के स्थानीय शासन विभाग के अवर सचिव एस.पी. वर्मा के हस्ताक्षर से परिपत्र क्रमांक १०६/६९ मं./१८-३/९०, भोपाल दिनांक १८.५.९० को शासनादेश जारी हुआ था। इसमें संचालक-नगर प्रशासन-भोपाल, समस्त जिलाध्यक्ष एवं समस्त संभागीय उपसंचालक-नगर प्रशासन-मध्यप्रदेश को 'विशिष्ट अवसरों पर पशुवध गृह बंद रखने बावत्' विषय निर्देशित किया है कि 'आपके क्षेत्र में स्थित समस्त स्थानीय निकायों को तदनुसार उचित कार्यवाही के लिए निर्देशित करें। इस विभाग ने अपने ही पूर्व के परिपत्र क्रमांक ५६६६ /३३०/१८ नगर/एक, दिनांक १६ अगस्त १९७१ को निरस्त करते हुए राज्य शासन के उपर्युक्त परिपत्र के माध्यम से आदेशित किया है कि नीचे दिये गए विशिष्ट अवसरों पर, स्थानीय निकायों की सीमा में स्थित समस्त पशुवध गृह एवं मांस बिक्री की दुकानें बंद रखी जायँ। राज्य शासन द्वारा इस हेतु जिन १७ विशिष्ट अवसरों का निर्धारण किया है, वे निम्नलिखित हैं-

(१) गणतंत्र दिवस (२) गांधी निर्वाण दिवस (३) महावीर जयंती (४) बुद्ध जयंती (५) स्वतंत्रता दिवस (६) गांधी जयंती (७) रामनवमी (८) डोल ग्यारस (९) पर्यूषण पर्व का प्रथम दिन (१०) पर्यूषण का अंतिम दिन (११) अनंत अचुर्दशी (१२) जन्माष्टमी (१३) संत तारण तरण जयंती (१४) पर्यूषण पर्व में संवत्सरी व उत्तम क्षमा (१५) भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण (१६) चैती चांद एवं (१७) गणेश चतुर्थी।'

स- मध्यप्रदेश के राज्यपाल के नाम तथा आदेशानुसार मध्यप्रदेश के सामान्य प्रशासन विभाग के द्वारा परिपत्र क्रमांक एम-३-५/१९९०/१/४, भोपाल, दिनांक १७ जनवरी १९९२ को निर्गमित हुआ था। इस परिपत्र के अनुसार जैन कर्मचारियों को राज्य शासन के द्वारा विशेष सुविधा प्रदान की गई है। इसमें उल्लेखित है कि 'राज्य शासन द्वारा श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी

कर्मचारियों को प्रतिवर्ष उनके पर्युषणपर्व के लिये क्रमशः भाद्रपद कृष्ण ११ से भाद्रपद शुक्ल पक्ष चतुर्थी या पंचमी तक और भाद्रपद शुक्ल पक्ष ५ से भाद्रपद शुक्ल पक्ष १५ तक धार्मिक कृत्य करने के लिये कार्यालय में १२ बजे तक पहुँचने की सुविधा प्रदान की गई है, बशर्ते कि इससे शासकीय कार्य पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़े और कर्मचारी अपना कार्य अद्यतन रखें।'

पाठकों से अपेक्षा है कि उक्त तीनों परिपत्रों का मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु

जहाँ वे धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं, स्थानीय संवाददाताओं के माध्यम से समाचार पत्रों, धार्मिक गतिविधियों संचालित होनेवाले योग्य स्थानों, जिन मंदिरों, संस्थाओं के कार्यालयों, चातुर्मास स्थलों में नोटिस बोर्ड आदि के द्वारा जन सामान्य तक पहुँचाएँ, वहीं द्वितीय परिपत्र की प्रति स्थानीय प्रशासनिक अधिकारी, पुलिस प्रशासन, नगरीय प्रशासन या ग्राम पंचायत निकाय के प्रमुख अधिकारी को उपलब्ध कराएँ, ताकि वे यथासमय उसका सम्यक् परिपालन करा सकें।

पंजाब में स्थापित हो रहे धार्मिक विश्वविद्यालय में जैनधर्म के अध्ययन हेतु प्रयास करें

भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा पंजाब प्रदेश में स्थित फतेहगढ़ साहिब क्षेत्र में प्रथम धार्मिक विश्वविद्यालय की स्थापना की जा रही है। इस विश्वविद्यालय में सभी धर्मों की शिक्षा दिये जाने और शिक्षित छात्रों को विधिवत् डिग्री दिये जाने का निर्णय किया गया है। निकट भविष्य में भारत सरकार द्वारा यह विश्वविद्यालय स्थापित करने संबंधी औपचारिक घोषणा की जावेगी। इस विश्वविद्यालय में कोई भी छात्र किसी भी धर्म की समुचित ढंग से शिक्षा प्राप्त कर सकेगा। सभी धर्मों का अध्ययन करनेवाले छात्र एवं पढ़ानेवाले विद्वान् एक ही परिसर में रहेंगे। परिणामतः सभी धर्मों के बीच पारस्परिक स्नेहसंबंध विकसित होंगे और कुछ धर्मों के संबंध में फैलती धारणाएँ समाप्त हो सकेंगी।

यहाँ यह भी उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि मध्यप्रदेश सरकार द्वारा संस्कृत शिक्षण-प्रशिक्षण के चतुर्मुखी विकास की दृष्टि से उज्जैन में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की गई है। अब मध्यप्रदेश में संस्कृत-शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए यह शीर्षस्थ एवं केन्द्रीय संस्था होगी।

राष्ट्रीय स्तर की सभी जैन सामाजिक संस्थाओं,

विद्वानों के संगठनों एवं जैनसंतों से विनम्र निवेदन है कि आप इस विषय में जैनधर्म के शिक्षण प्रशिक्षण के संबंध में अभी से विशेष समिति बनाएँ और जैनधर्म के शिक्षण प्रशिक्षण एवं कोर्स मटेरियल तैयार करने के लिए कार्यवाही प्रारंभ करें, जिससे कि इन विश्वविद्यालयों में प्रथम सत्र से ही प्रभावी ढंग से जैनधर्म का शिक्षण प्रारंभ हो सके।

सुरेश जैन, आई. ए. एस.

जैनाचार्य 108 आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की आशीष प्रेरणा से संचालित भा. दिग. जैन प्रशासकीय प्रशिक्षण संस्थान जबलपुर से संघ लोकसेवा आयोग की प्री. की परीक्षा में प्रविष्ट कुल 11 प्रशिक्षार्थियों में से 7 प्रशिक्षार्थी उत्तीर्ण हुये हैं। जो क्रमशः इस प्रकार है-

1. राजीव गोयल, 2. सोनल गोयल, 3. प्रमेश जैन, 4. प्रसन्न जैन, 5. शैलेश जैन, 6. अनूप जैन, 7. मुकेश सोनी।

संस्थान डायरेक्टर श्री अजित जैन एडवोकेट द्वारा उत्तीर्ण प्रशिक्षार्थियों को मुख्य परीक्षा की तैयारियों का दिशा दर्शन दिया गया एवं संस्थान अधीक्षक मुकेश सिंघई द्वारा बताया गया कि संस्थान में म.प्र. लोक सेवा आयोग की प्री. की तैयारियाँ प्रारंभ हो चुकी हैं। संस्थान में प्रवेश जारी है।

एड. अजित जैन
डायरेक्टर

महावीराष्टक : Mahaveerastaka

अंग्रेजी-अनुवाद : डॉ. प्रेमचन्द्र जैन

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः
समं भान्ति द्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तोऽन्तरहितः।
जगत्साक्षी मार्ग-प्रकटनपरो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

In whose Omniscience all animate-inanimate substance
Reflect simultaneously with origination, destruction and permanence.
Like the mirror, who is guide of the path to salvation.
And manifestant of the Universe just like the Sun.
Who attained supernatural bliss, breaking transmigrating ties,
Such Mahaveer please reside in my eyes.

अताम्रं यच्चक्षुः कमलयुगलं स्पन्दरहितं,
जनान् कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाति विमला
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

Redlessness of whose eyes, is evident of non-existence,
Of anger, inner or outer altogether in any sense.
Eyes also free from vibration, denotes facial expression.
Calm, quieted, pure in every respect, connotes perfection.
Who became image of non-violence, breaking transmigrating ties,
Such Mahaveer please reside in my eyes.

नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भाजालजटिलं
लसत्पादाभोजद्वयमिह यदीयं तनुभृताम्।
भवज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

Whose both feet made splendid with Splendour jewel,
Of crown of deities of heaven while bowing down well.
Remembering only whose name, the flames of the Universe,
Convert into water for averting people's curse,
Became incarnate of peace, breaking transmigrating ties
Such Mahaveer please reside in my eyes.

यदर्चाभावेन प्रमुदितमना ददुर इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधिः।
लभन्ते सद्भक्ताः शिवसुखसमाजं किमु तदा
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

Having desire to worship whom, within no time,
Delighted frog became endowed with powers sublime.
Possessed of mass of virtues, got a divine seat,
Then no wonder in the least, if a devotee discreet,
Attains eternal joy, breaking transmigrating ties.
Such Mahaveer please reside in my eyes.

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञाननिवहो
विचित्रात्माप्येको नृपतिवर सिद्धार्थतनयः।
अजन्मापि श्रीमान् विगत-भवरागोद्भुतगतिर्
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

Who is without body, even being lustrous like Gold,
 And is all alone, though aggregate of virtues who hold.
 Even after son of great king Siddhartha, he is quite without birth,
 Even being master of majesty, is devoid of passion and secular berth.
 Possessed of such peculiar body-form, breaking transmigrating ties,
 Such Mahaveer please reside in my eyes.

यदीया वाग्गङ्गा विविधनय-कल्लोलविमला
 बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
 इदानीमप्येषा बुधजन-मरालैः परिचिता
 महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

Whose Ganges of speech, endowed with waves of several standpoints,
 Causes worldly beings to bathe with water of wisdom of true view-points.
 Such 'Jin-wani' is known by swans of learneds still today.
 It is entrusted riches of all, who want benefit in any way
 Whose resonant preachings are capable of breaking transmigrating ties
 Such Mahaveer please reside in my eyes.

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः
 कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः।
 स्फुरन्तित्यानन्दप्रशम-पदराज्याय स जिनः
 महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

Who, with a view of attaining the kingdom of eternal bliss,
 Eternal calm and tranquility, did not let his adolescence amiss
 Has conquered the conqueror of three universes, the invincible lust
 In his very adolescence, thus proved a warrior just.
 Who conquered the kingdom of salvation, breaking transmigrating ties
 Such Mahaveer please reside in my eyes.

महामोहातङ्क-प्रशमन-पराकस्मिक-भिषङ्
 निरापेक्षो बन्धुर्विदितमहिमा मङ्गलकरः।
 शरण्यः साधूनां भवभयभृता-मुत्तमगुणो
 महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

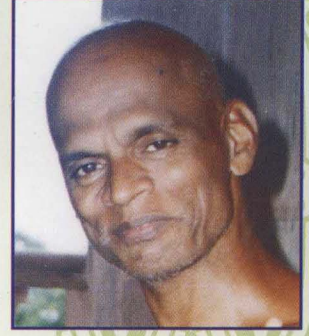
Who is an unexpected doctor for suppressing disease of delusion.
 Who is trusted friend-brother without any expectation.
 Whose greatness is undisputed, is benevolent and auspicious
 Who is refuge for saint, virtuous who fear world, being cautious
 Who is placed in eternal bliss, breaking transmigrating ties.
 Such Mahaveer please reside in my eyes.

महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या 'भागेन्दुना' कृतम्।
 यः पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमां गतिम्॥

Whoever reads and hears this Mahaveerastaka,
 Composed by devotee Bhagchadra "Bhagendu"
 Surely gets body-form of salvation
 May he be a Jain, Muslim or Hindu.
 This English translation is done by Jain, P.C.
 For the benefit of devouts, whether in land, air or in sea.

Ex- Director, Jawaharlal Nehru Smiriti
 Mahavidyalaya, GANJBASODA M.P.

मुनि श्री योगसागर जी की कविताएँ



विद्या के सागर में उफान

आया उफान
अनेकों बार
विद्या के सागर में
और
तट पर
यहाँ वहाँ
बिखरे बीजों में
संयम के अंकुर
उग आये हैं।
विरागता का
परम पावन पवन
अनाहत गति से
बहता है
तप का सूर्य
अपनी सहस्र
रश्मियाँ लिये
जगमगाता आता है
सुनम्य प्रकृति के
नन्हें अंकुरों पर
ऐसा गहरा
प्रभाव डाला है
कि
श्रद्धा की जड़ें
अन्तस्तल तक
बढ़ती ही गई हैं
और
चारित्र के
कई-कई वृक्ष
गगन को चूमने लगे
समय, नियम, योग,
क्षमा और गुप्ति
सभी तो यहीं हैं।

जीवन उपवन है

यह जीवन
वन नहीं,
है एक उपवन
संजीवनी सी
अमूल्य अनेक
गुणों का आगर
जहाँ से गुजरा
भावनाओं का
पावन पवन
सावन सा लगता है।

आनन्द का सरगम

ये दोस्तो
गम का उद्गम है,
विषयों का है
जहाँ संगम
जिसका
दम मिटाने
एक मात्र है साधन
जो है जिनागम
जिसके अभिगम से
गम निर्गम हो जाता है
और
आनन्द का
सरगम बजने लगता है।

प्रस्तुति : रतनचन्द्र जैन

श्रीसेवायतन-मधुवन-श्री सम्मेद शिखर जी को “झारखण्डरत्न सम्मान”

संत शिरोमणी प.पू. आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के पावन आशीष एवं उनके परम प्रभावी युवा शिष्य प.पू. मुनि श्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज की प्रेरणा से परम पावन तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर जी की पावनता की सुरक्षा एवं विकास हेतु गठित श्री सेवायतन संस्थान को सम्पूर्ण झारखण्ड प्रदेश में मानवसेवा एवं ग्रामीण विकास के सर्वाधिक उत्कृष्ट कार्यों के लिए झारखण्ड प्रदेश का सर्वोच्च सम्मान 'झारखण्ड रत्न' से एक भव्य समारोह में दिनांक ६ जुलाई २००८ को केन्द्रीय मंत्री सुबोधकांत सहाय एवं झारखण्ड विधान सभा के सभापति माननीय श्री आलमगीर आलम द्वारा श्री एम.पी. अजमेरा मानद अध्यक्ष श्री सेवायतन एवं श्री राजकुमार अजमेरा मानद महामंत्री एवं अन्य सहयोगियों की उपस्थिति में अलंकृत किया गया। जैनसमाज द्वारा कार्यरत सेवाभावी संस्थानों के अन्तर्गत श्रीसेवायतन पहली संस्था है जिसे शासकीय स्तर पर इतना बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ है। यह सम्पूर्ण जैनसमाज के लिए गौरव का विषय है।

केन्द्रीय मंत्री माननीय श्री सुबोधकान्त सहाय ने उक्त अवसर पर अपने उद्बोधन में कहा कि श्रीसेवायतन संस्थान की तरह अन्य संस्थानों को भी अपने-अपने क्षेत्र में सेवाकार्य करना चाहिए। विधानसभा-अध्यक्ष श्री आलमगीर आलम ने श्रीसेवायतन के कार्यों की सराहना करते हुए कहा कि सभी सेवा संस्थान श्रीसेवायतन की तरह कार्य करने लगे, तो झारखण्ड की स्थिति बदल जाएगी।

उक्त अवसर पर सम्मानसभा को संबोधित करते हुए श्रीसेवायतन संस्थान के माननीय अध्यक्ष श्री एम.पी. अजमेरा ने कहा कि श्रीसेवायतन का उद्देश्य श्री सम्मेद शिखर जी मधुवन की तलहटी में बसे १४ अभाव ग्रस्त ग्रामों का सर्वांगीण विकास कर उन्हें आत्मनिर्भर बनाते हुए आदर्श क्षेत्र बनाना है।

श्रीसेवायतन संस्थान ने अल्प अवधि में अपने सेवाकार्यों द्वारा विरेनगड्डा एवं बगदाहा ग्राम, जिसे **आचार्य विद्यासागर आदर्श ग्राम** के रूप में नामांकित किया गया है उसे आधारभूत सुविधाएँ प्रदान करते हुए पूर्णतः शाकाहारी एवं नशामुक्त ग्राम बना दिया है, जो अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। ग्रामवासियों के व्यक्तित्वविकास हेतु आर्ट ऑफ लिविंग एवं नवचेतना शिखर लगाये गये हैं, तथा उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए रोजगार के विभिन्न साधन उपलब्ध कराये जा रहे हैं। वर्तमान में ५०० परिवारों को १००० दुधारू गायें राज्य सरकार एवं श्री सेवायतन के सहयोग से प्रदान करने की योजना है। निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा सुविधाएँ भी प्रदान की जा रही हैं।

श्रीसेवायतन के अध्यक्ष श्री एम.पी. अजमेरा के साथ समर्पित लोगों की एक बड़ी टीम कार्य कर रही है। इन सभी का प्रयास अत्यन्त उल्लेखनीय है एवं प्रशंसनीय है।

विमल कुमार सेठी, गया
प्रचार मंत्री श्री सव यत